

पक्ष के बाद पक्ष उजला है
श्याम शिशिर के सदा बसन्त फला है ।
अंधेरी रात अन्ततः पूरी होती
प्रातः का चिंतन उपजाता है मोती ॥

निन्दिषण की फिर निद्रा उचटी है
कुछ छँटी अघ-घटा, आई पुण्य घटी है ।
उज्ज्वल अतीत का आया पुनःस्मरण है
एकाग्रचित्त करने में प्रतिक्रमण है—

न स्वयं में रहता था निशिवासर
माता आनन्द सुपर्वो से भी बढ़ कर ।
था तपस्तृप्त, अनगार, अनीह, अनातुर
हा, हुई शील-चादर वह कितनी कर्बुर ?

प्रारणार्थ निकला था लाने भिक्षा
मा, बात-बात में खण्डित हुई तितिक्षा ।
फिसला तो ऐसा फिसला सँभल न पाया
मोहोदय को मैं करने विफल न पाया ॥

भेनिष्क्रमण यहां से अब भी मेरा
जब अन्तःप्रज्ञा जागे तभी सवेरा ।
प्रभु-चरणों में जा, आलोचना करूं मैं
ले प्रायश्चित्त आत्मरण में उतरूं मैं ।’

साक्षी से चिंतन को सार्थ किया है
मैं 'कदंबकोरक' न्याय कृतार्थ किया है ।
कर छिन्न-भिन्न आवरण ध्यान के द्वारा
स्वाध्याय, तपस्या से तोड़ी भव-कारा ॥

राग, निश्चल, निर्द्वन्द्व हृदय है,
प्रविकल्प अहिंसानिष्ठित अतः अभय है ।
निःसंग, निरामय, निरभिलाष जीवन है,
निर्लिप्त, प्रसन्न चेतना का कण-कण है ॥

उत्कृष्ट प्रकाश उतर आया है,
मन्यम-भावित मन, वचन और काया है ।
आत्मीय-अपर की मिटी विभाजन-रेखा,
अपना स्वरूप ही प्राणिमात्र में देखा ॥

ममता-बन्धन

साध्वी मोहनां
(श्रीडूंगरगढ़)
साध्वी प्रेमलता



जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

प्रकाशक : जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६

जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : २००६

द्वितीय संस्करण : २०१३

मूल्य : ₹80 (अस्सी रूपये मात्र)

मुद्रक : पायोरॉइट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर फोन : ०२६४-२४१८४८२

संकेतिका

आशीर्वचन	५
एक उत्कृष्ट काव्यकृति	७
अपनी कलम से	१५
सर्ग-१ : प्राकृतिक परिवेश	१९
सर्ग-२ : निमित्त	२७
सर्ग-३ : प्रश्नोत्तर	४१
सर्ग-४ : स्वप्नादेश	५५
सर्ग-५ : अभिनिष्क्रमण	६७
सर्ग-६ : नियति का नाटक	८७
सर्ग-७ : अनुस्मरण	१०१
सर्ग-८ : अभ्युत्थान	११५

आशीर्वचन

जैन वाङ्मय कथानकों का खजाना है। उसका प्रत्येक कथानक प्रेरक और उद्बोधक है। सम्राट श्रेणिक के पुत्र नन्दीषेण की जीवन-यात्रा में आरोह के बाद अवरोहण की बात है। किन्तु एक समय के बाद उसने पुनः अध्यात्म के शिखर पर आरोहण कर अपना लक्ष्य साधने में सफलता प्राप्त कर ली। प्रस्तुत कथानक को आधार बना कर साध्वी मोहनांजी और साध्वी प्रेमलताजी ने अपनी सृजन-साधना को रूपायित करने का प्रयास किया है।

साध्वीद्वय द्वारा लिखित काव्य 'ममता-बन्धन' नन्दीषेण के कथानक की सहज, सरल और सरस प्रस्तुति है। काव्य की भाषा में सौष्ठव है और प्रवाह है। भावों का गुम्फन आकर्षक है। जैसे-जैसे काव्य की यात्रा आगे बढ़ती है, कथानक का कथ्य मूर्तिमान होकर पाठक की आँखों में समा जाता है।

जीवन-पथ से भटका हुआ राही एक छोटे से दीये की दीपशिखा के आलोक से सही पथ पाकर मंजिल तक पहुँच जाता है। अध्यात्म की यात्रा से भटक कर उत्पथ पर गतिशील नन्दीषेण गणिका के दो बोलों—'क्यों सरपच्ची कर-कर थकते? तुम भी तो दसवां बन सकते' को सुन कर पुनः जाग उठा।

ममता-बन्धन को पढ़ कर किसी भी पाठक के भीतर का बन्धन टूट सके या शिथिल हो सके तो साध्वीद्वय को नया सृजन करने की विशेष प्रेरणा मिलेगी।

२० सितम्बर २००५
महरौली (दिल्ली)

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

एक उत्कृष्ट काव्यकृति

तेरापंथ धर्मसंघ के गणाधिपति युगपुरुष आचार्यश्री तुलसी एवं कवि मनीषी वर्तमान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की छत्रछाया में वरिष्ठ साध्वी मोहनांजी तथा उनकी सहयोगिनी साध्वी प्रेमलताजी संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, एवं हिन्दी भाषाओं की विदग्ध विदुषी साधना के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी विशिष्ट स्थान एवं पहचान रखती हैं। ऐसी अनेक विभूतियों से समृद्ध, असंख्य वरेण्य विद्वान् मुनियों, विदुषी तपःपूत साध्वियों से अनुप्राणित इस धर्मसंघ का सारस्वत अवदान मानव समाज के लिए आध्यात्मिक चिन्तन, नैतिक मूल्यों की स्थापना, विश्व शान्ति के शिव संकल्प एवं निष्ठा सेवा की विकासशील चिर परम्परा का ज्योतिस्तम्भ है।

प्रस्तुत खण्ड-काव्य 'ममता-बन्धन' धर्मनिष्ठ साध्वी-युगल मोहनांजी तथा प्रेमलताजी की अद्भुत काव्यप्रतिभा, गहन अध्ययन, कल्पनाशील सशक्त अभिव्यंजना, भाषा-सौष्ठव एवं लोक-मंगल की सात्विक भावना का पारदर्शी प्रसंगयुक्त प्रकल्प है।

मगध-नरेश श्रेणिक के युवा आत्मज नन्दिषेण के हृदय में नगरसेठ के इकलौते पुत्र की असामयिक मृत्यु का दृश्य देख कर जीवन की नश्वरता से सहसा वैराग्य-भावना का उदय होता है—

‘यह क्या जीवन जिस के आगे-पीछे मौत खड़ी है,
कभी किसी को भी निश्चिन्त न मिलती एक घड़ी है।’

‘जहां नहीं तम-तोम, सर्वदा रहता जहां सवेरा,
पहुँच न जहां मृत्यु की होगा वही लोक अब मेरा ॥’

इस दृढ़ संकल्प के साथ राजकुमार अपने पिता के साथ तर्क-वितर्क द्वारा उन्हें संतुष्ट कर भगवान महावीर की शरण में साधना-लीन हो जाता है।

एक दिन भिक्षाटन करते उस निर्वाण-पथ के पथिक को नियति एक वेश्या के द्वार पर ले जाती है, जहां वह चरित्रभ्रष्ट होकर कई वर्ष भोग-विलास में बिता देता है। पुनः चिन्तन करते समय उसके मन में पुराने सात्विक संस्कार जागते हैं और वह सुबह का भूला शाम को घर लौट पुनरुत्थान का नया अध्याय आरम्भ करता है।

आठ सर्गों में विभाजित इसी कथानक को बड़ी कुशलता के साथ प्रवाहमयी शैली में रोचक वर्णन एवं कल्पना-प्रसूत प्रसंगों, ज्ञानवर्धक संवादों से विकसित किया गया है। आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त काव्य का प्रकृति-वर्णन इस प्रबन्ध-रचना की उल्लेखनीय विशेषता है। संपूर्ण प्रथम सर्ग तो केवल प्रकृति-सौन्दर्य की छटा और विस्तृत एवं विविध कवि-कल्पनाओं में ही सिमट गया है। प्रभात-काल में ओसकणों से शोभित धरती का एक दृश्य तनिक देखें—

जब होने लगी विदा रजनी
आँखों से आंसू बरस पड़े।
द्रुम-दल पर ऐसे दीप्त हुए
जैसे मुक्ताफल गए जड़े ॥

वन-उपवन में विहार करते राजकुमार प्राकृतिक सुषमा से जब अभिभूत थे तो सर्ग के अन्त में सहसा प्रकृति ने भावी दुर्घटना का प्रतीकात्मक संकेत देकर उन्हें विक्षुब्ध कर डाला—

‘पीपल का पत्ता एक हरा
इतने में टूट गिरा सम्मुख।
सुकुमार दहल सा गया देख
हा दैव! हुआ इतना दुर्मुख ॥’

अगले ‘निमित्त’ सर्ग में नगर-सेठ के इकलौते युवा पुत्र की मृत्यु के हृदयद्रावक दृश्य की परिकल्पना करती ये पंक्तियां निःसन्देह ‘काव्य-कौशल’ की सूचक हैं। ‘आलम्बन’ रूप के साथ-साथ प्रकृति-वर्णन की यह प्रतीकात्मक शैली काव्य के कई सर्गों में देश-काल की घटनाओं का पूर्वाभास देती है। उदाहरण के लिए छठे सर्ग में वर्षाकाल की घनघोर गर्जना, ‘अनुस्मरण’ में रात्रि का अंधकार, ‘आंसू टपकाता नभ नीला’ या

‘निर्मल जल पर आवरण डाल,
हो गया प्रसृत शैवाल-जाल।’

जैसी पंक्तियां वेश्या के बाहु-पाश में बंधे नन्दिषेण की चिन्तित मनःस्थिति को चिह्नित करती हैं। अन्तिम सर्ग में भी सूर्यास्त के समय पश्चिम दिशा की अन्तिम अरुणिमा, धुंधलाती पूर्व दिशा की स्याही, अंततोगत्वा रवि-किरणों से साक्षात्कार नन्दिषेण और कोशा (वेश्या) की बदलती छवियों का दिग्दर्शन करा देते हैं।

सातवें सर्ग में—

‘अवगुंठन खोले खड़ी निशा,
निस्तब्ध पड़ी प्रत्येक दिशा।’

‘आंसू टपकाता नभ नीला,
अवनी का हरिताञ्चल गीला।’

‘निर्मल जल पर आवरण डाल
हो गया प्रसृत शैवाल-जाल।
ज्यों दर्शन-ज्ञान-चेतना पर
छा जाते कर्म उदय आ कर॥’

जैसी सटीक पंक्तियां वेश्या के बाहुपाश में बंधे संन्यासी नन्दिषेण की मनःस्थिति को भी उजागर करती हैं। सार्थक उपमान के कारण शैवाल-जाल (उपमेय) का शब्दचित्र ‘बिम्बविधान’ का सजीव नमूना है।

प्राकृतिक सुषमा के वर्णन में कवि-कल्पना का सौन्दर्य ‘सोने पर सुहागा’ कहावत को चरितार्थ करता है। कुछ बानगी देखिए—

‘घटाएं उमड़ रही घनघोर,
धरा पर नाच रहे हैं मोर।’

‘हरित भू पर विद्रुम से अंग
दिखाती बीरबहूटी रंग।’

‘सिंदूरी बदन प्रतीची का जब देखा,
प्राची में खिची असित ईर्ष्या की रेखा।’

‘आँखों को अर्धनिमीलित कर
साधक ज्यों सुस्थिर बकमाला ॥’

‘ममता-बन्धन’ के संवाद जहां आध्यात्मिक चिन्तन, सैद्धांतिक विवेचन का माध्यम हैं, वहीं व्यावहारिक तर्क-वितर्क द्वारा युवावस्था में वैराग्य सम्बन्धी जन-साधारण की आशंका और उनके उचित समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। इस कारण यह प्राचीन आख्यान वर्तमान युग के लिए सर्वथा प्रासंगिक बन गया है।

युवा राजकुमार को गृहत्याग से विमुख करने के लिए मगध नरेश श्रेणिक जो तर्क देते हैं, वे बड़े ही मार्मिक हैं, जो आधुनिक भौतिकवादी युग में अनेक बुद्धिजीवियों के मन में उठते हैं। स्वप्न अवस्था में दिव्यपुरुष भी वही प्रवचन दोहराता है—

‘गिरि-गह्वर में जिसे ढूंढते,
जिसे खोजते वन-वन में।
वह तो अन्तर्हित है बेटा!
अपने ही मन-कानन में।’

‘बेटा, दीक्षित हो जाते हैं,
भावुकतावश अगर किशोर।
आकर्षित हो सकते हैं वे
यौवन में भोगों की ओर।’

‘दीक्षा एक दमन है बेटा,
दीक्षा इच्छाओं पर चोट
दमित वासनाओं का होता
यदा-कदा भारी विस्फोट ॥’

वर्तमान में ऐसे कितने गंभीर प्रश्नों का समुचित उत्तर देकर रचनाकार साध्वी-युगल ने फिर सिद्ध कर दिया है कि साहित्य समाज का दर्पण भी होता है और पथ-प्रदर्शक भी। दीक्षा को पलायन कहने वालों के लिए नन्दिषेण का उत्तर है—स्वेच्छा से, विवेकपूर्वक गृहत्याग पलायन नहीं

कहलाता। चित्त की पवित्रता के लिए पूर्व जन्मों में अर्जित सात्विक संस्कार और तप, संयम, ध्यान-साधना ही एकमात्र मार्ग है। दमित वासनाओं का शोधन तथा उन्नयन साधना द्वारा ही संभव है, जिसके लिए भौतिक जगत के आकर्षणों को त्यागना आवश्यक है। क्योंकि—

‘कज्जल की कोठी में रहना
किन्तु न करना काले हाथ।
चन्दन सी निर्विषता दुर्लभ
रह कर नित भुजगों के साथ।’

‘दीक्षा का उद्देश्य शान्ति से
रहे सदा मन ओतप्रोत।
अन्तस्तल में सहज प्रवाहित
हो समाधि का अविरल स्रोत।’

पिता को संतुष्ट कर युवा राजकुमार नन्दिषेण भगवान महावीर की शरण में चला तो गया परन्तु नियति उसे वेश्या कोशा के आवास पर ले गई। दम्भ एवं अभिमान के वशीभूत होकर जब धन की लोभी वेश्या के उकसाने पर अपनी तपोबल से प्राप्त सिद्धि से कोटि स्वर्णमुद्राओं की वर्षा कर दी तो चतुर वेश्या ने उस कल्पवृक्ष को अपने प्रेम-पाश में बांध लिया—

‘जलाशय आप बनो मैं मीन,
रहूंगी चरण-सलिल में लीन।
‘करो दीपक बन आप प्रकाश
रहूंगी मैं पतंग सी पास ॥’

‘बुढ़ापे में लेना संन्यास,
अभी तो यौवन का मधुमास।’

‘ताप से पिघल गया नवनीत,
पुण्य पर हुई पाप की जीत।’

कई वर्ष भोग-विलास में बिताने पर मुनि-मर्यादा से भ्रष्ट युवा नन्दिषेण को पश्चात्ताप हुआ। 'अनुस्मरण' सर्ग में विस्तारपूर्वक उसका वर्णन है। आत्मग्लानि से उसमें धीरे-धीरे विवेक जागृत होता है—

‘है कोमल शय्या फूलों की
पर चुभती शूलें भूलों की।’

‘यह नौका छिद्रों से छलनी,
संभव न कभी तट तक चलनी।’

नन्दिषेण का मोहभंग हुआ। अंधेरी रात बीती। ज्ञान का सूर्योदय हुआ। उसने एक संकल्प लिया—

प्रेरणा दूसरों को दूंगा,
अध्यात्म तत्त्व बतलाऊंगा।
दस व्यक्ति नित्य समझाऊंगा,
प्रभु-चरणों में पहुँचाऊंगा ॥

नौ व्यक्तियों को तो दीक्षा के लिए तैयार कर लिया। परन्तु दसवां व्यक्ति नितांत अक्खड़ निकला। खण्डकाव्य में उस व्यक्ति ने नन्दिषेण पर जिन चुटीले व्यंग्यपूर्ण शब्दबाणों से प्रहार किया, वे विचारणीय हैं।

आधुनिक युग के पाखंडी, दम्भी, तथाकथित धर्मगुरुओं की प्रतिष्ठा पर वे प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उस कटुसत्य की कुछ झलकियां प्रस्तुत हैं—

‘बैठा वेश्या का बना दास
ऊपर से यह वाणी विलास?’

‘क्या अन्धा पथ दिखला सकता?
औरों को पंगु चला सकता?’

‘बन पहले तू ही गुण-सागर,
फिर भरना औरों की गागर।’

उस स्पष्टवादी व्यक्ति की खरी-खोटी बातें सुन कोशा ने उस विवाद

को शान्त करने के लिए एक ऐसा 'वाक्य' कह दिया, जिससे मोहान्ध नन्दिषेण के जीवन में मानो एक चमत्कारी क्रांति घटित हो गई। जब नन्दिषेण दस व्यक्तियों को दीक्षा के लिए तैयार करने की प्रतिज्ञा पूरी करने के पश्चात् ही अन्न-जल ग्रहण करने पर अड़ गए तो कोशा ने कहा—

यह निभने वाली नहीं टेक
पहले ही रखना था विवेक।
क्यों सरपच्ची कर-कर थकते
तुम भी तो दसवां बन सकते ॥

यह सुनते ही नन्दिषेण की आँखें खुल गई। सुप्त संस्कार जाग उठे। कोशा नन्दिषेण के लिए तुलसीदास की 'रत्नावली' सिद्ध हुई। सिक्ख-पन्थ के नवम गुरु के पास जब मुगलों के अत्याचार से पीड़ित पण्डित 'त्राहि मां, त्राहि मां' पुकारते हुए शरणागत हुए तो गुरु तेगबहादुर ने सोच-विचार कर कहा—इस अन्याय-अत्याचार को समाप्त करने के लिए किसी वीर को प्राणों का बलिदान देना होगा। आप में है कोई ऐसा बलिदानी वीर? कहते हैं, उस समय पास खड़ा छह वर्षीय उनका पुत्र (गुरु) गोविन्दराय बोल पड़ा—पिताजी, आपसे बढ़ कर वीर और कौन होगा? बालक के मुख से ये शब्द सुनते ही उन्हें बोध हुआ और वे औरंगजेब (मुगल सम्राट) का सामना करने निकल पड़े। इतिहास साक्षी है, मुगल सम्राट के आदेश पर दिल्ली के चांदनी चौक में नवम गुरु का सिर काट दिया गया, जहां आज 'सीसगंज गुरुद्वारा' निर्मित है।

नन्दिषेण ने भी वेश्या कोशा को धन्यवाद दिया—

संस्कार बीच में रहे प्रसुप्त पुरातन,
तेरे निमित्त से वे हो गए सचेतन,

अब सुबह का भूला शाम को घर लौट आया था। उसे इस शाश्वत सत्य की प्रतीति हो गई थी कि 'निज पर शासन फिर अनुशासन'। पुत्र-प्रेम, पत्नी-प्रेम, सब प्रकार के सांसारिक प्रेम से नाता तोड़ कर नन्दिषेण विश्वप्रेम का संदेशवाहक बन गया—

'लघु से विराट की ओर ध्येय है मेरा,
अणु से लेकर ब्रह्माण्ड प्रेय है मेरा।'

‘यह बिन्दु फैल कर क्षीरसिन्धु बन जाए,
‘वसुधैव कुटुम्बम्’ सूक्त सत्यता पाए,

यह भाव-सरित, बन जाए गंगासागर,
यह दीपशिखा निखरे बन दिव्य दिवाकर।’

उदयभानु हंस
कविभूषण, साहित्यालंकार, राज्यकवि हरियाणा,
अणुव्रत लेखक

अहम् अपनी कलम से.....

मनुष्य का जीवन संयोग-वियोग, हर्ष-शोक, प्रभात-संध्या, प्रकाश-अधंकार, उत्थान-पतन, आकर्षण-विकर्षण, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, स्वतंत्रता-परतंत्रता, जय-पराजय, अनुरक्ति-विरक्ति जैसे असंख्य विरोधी-युगलों में पलता है।

छद्मस्थ मनुष्य की चिन्तनधारा किसी एक बिन्दु पर चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकती। समुद्री जल में ज्वार-भाटे की तरह उसमें आरोह-अवरोह का क्रम अनायास चलता रहता है। काल के तीन विभाग हैं—अतीत, वर्तमान और अनागत। आगम-शास्त्र के अनुसार वर्तमान का कालमान मात्र एक 'समय' (काल की अत्यन्त सूक्ष्म इकाई) है, जिसे अविच्छिन्न काल-प्रवाह से अलग करके पकड़ पाना और जान पाना संभव नहीं।

काल की तरह भावधारा की भी तीन स्थितियां बनती हैं—वर्धमान (Increasing), हायमान (Decreasing), अवस्थित (Stable)। परन्तु वह काल की तरह एकदिशागामी नहीं होती। उसमें अनियत गति से दोलन होता रहता है। साधना की प्रारंभिक भूमिका पर स्थित साधक को इन तीनों ही स्थितियों में से बारम्बार गुजरना पड़ता है। प्रथम 'समय' के वर्धमान, हायमान या अवस्थित भाव दूसरे 'समय' में ही बदल सकते हैं। यह परिणामों की अल्पतम स्थिति है।

प्रस्तुत काव्यकृति का कथानायक भी उपरोक्त सभी शृंखलाओं से जकड़ा हुआ है। वह राजमहल में जन्मा। संसार से विरक्त हो उसने प्रव्रज्या स्वीकार की। अकिञ्चन, निस्पृह संन्यासी बना। श्रुत की आराधना की। उग्र तपश्चर्या में अपने आपको झोंका। किन्तु विधि की विडम्बना! वह सुषुप्ति

और जागरण के झूले में झूल गया। वेश्या के दुष्चक्र में फँसकर संयमभ्रष्ट भी हो गया और कालान्तर में निःश्रेयस की दिशा में पुनः प्रस्थित भी हो गया।

काव्य का पहला सर्ग 'प्राकृतिक परिवेश' जीवन के सौन्दर्य की क्षणभंगुरता का बोध देता है। दूसरा सर्ग वैराग्य का प्रत्यक्ष 'निमित्त' प्रस्तुत करता है। तीसरा सर्ग संन्यास-साधना के प्रति बद्धमूल भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करता है। राजकुमार के ठोस और अकाट्य तर्क सम्राट को निरुत्तर कर देते हैं। फलतः वह गृहत्याग के लिए माता-पिता की अनुमति प्राप्त करने में सफल हो जाता है। पांचवें, छठे, सातवें और आठवें सर्ग का कथ्य प्रत्येक सर्ग के नाम (क्रमशः अभिनिष्क्रमण, नियति का नाटक, अनुस्मरण और अभ्युत्थान) से ही स्पष्ट है।

चौथे सर्ग का नाम 'स्वप्नादेश' है। स्वप्न का क्षेत्र बहुत व्यापक है। दमित वासनाएं स्वप्न में प्रकट हो सकती हैं। भोगा हुआ सच या अतृप्त आकांक्षा स्वप्न का रूप धारण कर सकती है। जागृत अवस्था का कल्पनालोक स्वप्नलोक में साकार होता या विघटित होता दृष्टिगोचर हो सकता है।

अंग साहित्य का प्रसंग है—गौतम भगवान महावीर से पूछते हैं—'भंते! जीव सुप्तावस्था में स्वप्न देखता है? जागृत अवस्था में स्वप्न देखता है? या सुप्त-जागृत अवस्था में स्वप्न देखता है?'

'गौतम! जीव सुप्त अवस्था में स्वप्न नहीं देखता, जागृत अवस्था में भी स्वप्न नहीं देखता। वह कुछ जागृत—अर्धनिद्रित अवस्था में स्वप्न देखता है।'

गौतम! स्वप्न के ५ प्रकार हैं—

१. यथातथ्य स्वप्न—भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का हूबहू सूचक।
२. चिन्तास्वप्न—जागृत अवस्था के चिंतन पर आधारित।
३. प्रतान स्वप्न—विस्तारयुक्त स्वप्न।
४. तद्विपरीत स्वप्न—होने वाली घटना से बिलकुल विपरीत।
५. अव्यक्त स्वप्न—दमित इच्छाओं और वासनाओं को प्रकट करने वाला।

भद्रबाहु-संहिता में सात प्रकार के स्वप्नों का उल्लेख है—

१. दृष्ट—जागृत अवस्था में जो देखा, वही स्वप्न में देखना ।
२. श्रुत—जागृत अवस्था में जो सुना, वही स्वप्न में देखना ।
३. अनुभूत—जागृत अवस्था में जो अनुभव किया, वही स्वप्न में देखना ।
४. प्रार्थित—जागृत अवस्था की इच्छा या प्रार्थना को स्वप्न में सफल या विफल होते देखना ।
५. कल्पित—जागृत अवस्था की कल्पना को स्वप्न में साक्षात् देखना ।
६. भाविक—भविष्य में घटित होने वाली घटना का पूर्वाभास कराने वाला ।
७. दोषज—वात, पित्त और कफ की विकृति के कारण आने वाला ।

राजकुमार ने आगम के अनुसार पहले प्रकार के और भद्रबाहु संहिता के अनुसार छोटे प्रकार के स्वप्न देखे थे, जिन्हें पढ़ कर प्रारम्भ में ऐसा लगता है कि नन्दिषेण के वैराग्य को किसी अदृश्य शक्ति द्वारा कसौटी पर कसा जा रहा है। परन्तु वास्तव में वे कुमार के अदृष्ट की एक प्रतीकात्मक झलक प्रस्तुत करते हैं। स्वप्न के माध्यम से उसे संयम से स्खलित होने का भी संकेत मिलता है और उसके बाद एक अवलम्बन, एक दिक्सूचक यन्त्र, एक टिमटिमाते ध्रुवतारक के सहारे पुनः राजपथ तक पहुँचने की भी सूचना मिलती है।

कुमार नन्दिषेण में उस समय भावना का वेग था। उत्साह का अतिरेक था। अपने मनोबल, धृति और पौरुष पर अतिरिक्त विश्वास ने उसे पुनः चिंतन, मनन और विमर्श का अवसर नहीं दिया। स्वप्न की सांकेतिक भाषा को उसने गहराई से नहीं लिया, उपेक्षित कर दिया। अपने निर्णय को अविलम्ब क्रियान्वित करने के लिए वह कटिबद्ध हो गया।

ईस्वी सन् १९७१ में रचित इस काव्यकृति का तेतीस वर्ष बाद ईस्वी सन् २००४ में पुनर्निरीक्षण किया तो भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से इसमें आमूलचूल परिवर्तन अपेक्षित लगा। छंदों को यथावत रखते हुए लगभग सम्पूर्ण काव्य को नया रूप देना काफी श्रम-साध्य कार्य था जो कि

नरवाना (हरियाणा) चातुर्मासिक प्रवास-काल में सम्पन्न हुआ ।

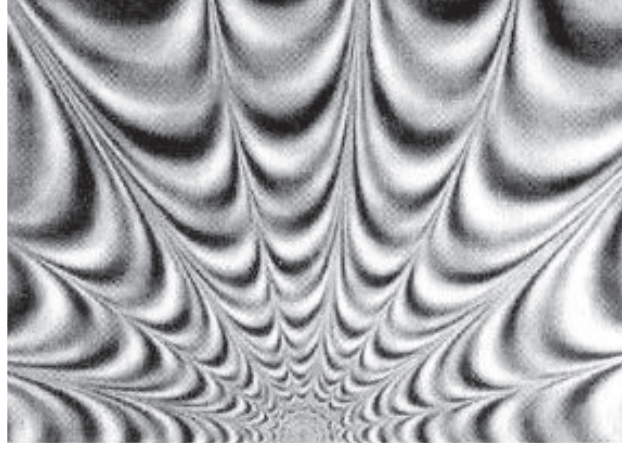
परमपूज्य गुरुदेव के नाम के अतिरिक्त मैं कुछ जानती हूं, ऐसा मैं नहीं मानती । इस कृति में यत्किञ्चित् सार्थक और प्रेरणादायक बन पाया है, वह महामहिम आचार्यप्रवर और श्रद्धेय युवाचार्यवर के मंगल आशीर्वाद का ही परिणाम है । महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्रीजी ने जो अमूल्य आशीर्वचन प्रदान किया है, उसके लिए कृतज्ञता ज्ञापित करना बालोचित प्रयास होगा । इस विषय में कुछ लिख सकूं, ऐसी लेखनी मुझे प्राप्त नहीं है ।

साध्वी 'चांदांजी' का अविस्मरणीय बहुआयामी सहयोग मुझे प्रारम्भ से ही मिलता रहा है ।

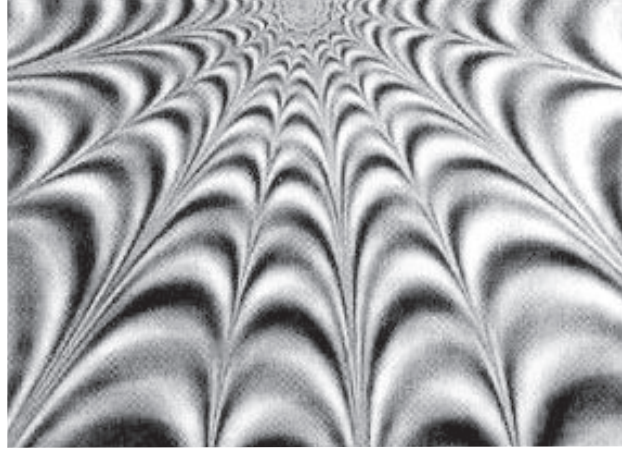
हरियाणा के राज्यकवि उदयभानु 'हंस' ने इसे आद्योपान्त पढ़ कर इस पर अपनी लेखनी चलाई है, उसे काव्य की प्रस्तावना के रूप में यथावत् ग्रहण कर लिया गया है ।

१५ अक्टूबर २००५
कुबेर भवन, सिवानी (हरियाणा)

साध्वी मोहनां (श्रीडूंगरगढ़)



१
प्राकृतिक परिवेश



(१)

कुंकुम बिखेरता प्राची में
ऊषा का रथ गतिमान हुआ ।
जग को ज्योतिर्मय करने का
प्रारम्भ पुनः अभियान हुआ ॥

विहगों ने विरुदावलि गा-गा
आगन्तुक को बहुमान दिया ।
अभ्यागत ने प्रत्युत्तर में
जागर्या का आह्वान किया ॥

धीमे-धीमे आ किरणों ने
अग-जग को नया उजास दिया ।
जल-स्थल-वनचारी जीवों ने
निर्भयता का उच्छ्वास लिया ॥

शीतल, सुरभित, मृदु, मन्द्र पवन
फूलों, पत्तों को सहलाता ।
ले-लेकर उनसे संजीवन
आबाल-वृद्ध को पहुंचाता ॥

जब होने लगी विदा रजनी
आँखों से आंसू बरस पड़े ।
द्रुम-दल पर ऐसे दीप्त हुए
जैसे मुक्ताफल गए जड़े ॥

दिल देख जलाशय का विशाल
रवि का कर-निकर उतर आया ।
बल खाती उच्छल लहरों से
अठखेली करने उमगाया ॥

पा रश्मि-पुञ्ज का स्पर्श सुखद
सुमनों के शोभन नयन खुले ।
हँसते-मुस्काते देख उन्हें
पीड़ा का कल्मष सहज धुले ॥

खग नीड़-निलय से निकल उड़े
विस्तृत नीले नभ-प्रांगण में ।
कुछ फुदक रहे तरु-डालों पर
कुछ कलरव करते कानन में ॥

कलियों के खिलते ही उन पर
मधुपों की टोली मँडराई ।
तरु-लता-कुञ्ज, उद्यानों में
नर्तन करती है पुरवाई ॥

पर खोल तितलियां नाच उठी
अपने रंगों पर इठलाती ।
विहसित कुसुमों की स्पर्धा में
सुन्दरता अपनी दिखलाती ॥

खिल उठे सुमन भी सूर्यमुखी
मुख रवि के सम्मुख कर अपना ।
निशिभर नेत्रों को बन्द किए
थे देख रहे जिसका सपना ॥

दिल से दिल मिल जाने में है
दूरी का कुछ प्रतिबन्ध कहां ?
सम्बन्ध बदल दे अन्तस् का
मिलता है ऐसा छन्द कहां ?

सूरज सदैव नभ में चलता,
धरती पर खिलता सूर्यमुखी ।
फिर भी संयोग-वियोग उसे
करता है कितना सुखी-दुखी ॥

हिलते हैं पवन झकोरों से
दूर्वा के रुचिर दुकूल कहीं ।
है हरीतिमा सब ओर सुखद
दृग् डालो दिखते फूल वहीं ॥

वन-उपवन की श्री मुखर हुई
शोभा विग्रह धर कर आई ।
देखने प्रकृति का भव्य रूप
देवों की आँखें ललचाई ॥

कोयल ने पंचम स्वर छोड़ा
पथिकों के पुलकित प्राण हुए ।
जिसके प्रभाव से परिसर के
संताप, ताप प्रियमाण हुए ॥

मंजुल निकुञ्ज के मध्य छिपी
बुलबुल कंठों को खोल रही ।
है वातावरण मधुर उसमें
वह और मधुरिमा घोल रही ॥

कलहंसों की कमनीय पंक्ति
सामोद जलाशय में तरती ।
अपनी मोहक मंथर गति से
दर्शक के मानस को हरती ॥

इनका जो कंकर-मोती का
या क्षीर-नीर विवेक विश्रुत ।
प्रस्तुत रहता न्यायालय में
तो न्याय-जगत होता अद्भुत ॥

शोषण, अन्याय, विषमता की
होती न किसी को फिर पीड़ा ।
सुख स्वर्गलोक से आ-आकर
करता भूमंडल पर क्रीड़ा ॥

आँखों को अर्ध-निमीलित कर
साधक ज्यों सुस्थिर बकमाला ।
लगती है कायोत्सर्ग-लीन
पर भीतर धधक रही ज्वाला ॥

मछलियां दृष्टिगत होते ही
हो जाता सहसा योग भंग ।
खुल जाती चोंचें बड़ी-बड़ी,
धुल जाता सारा छद्मरंग ॥

तन से उजला, मन से काला
होता प्रायः षड्यंत्रकार ।
वह उधेड़बुन में ही रहता
कैसे किस पर करना प्रहार ॥

श्रेणिक का नंदन नंदिषेण
निरलस हो भ्रमण-हेतु निकला ।
आमोद बरसता अंबर से
दिङ्मण्डल भी उजला-उजला ॥

प्राणप्रद सौरभ से कुमार
अतिशय आनन्द-विभोर हुआ ।
खिल उठी हृदय की कली-कली
पुलकित उसका मन-मोर हुआ ॥

कितना निसर्ग के अंचल में
माधुर्य और सुख भरा पड़ा ।
अनमोल खजाना संसृति का
हो मूर्तिमान प्रत्यक्ष खड़ा ॥

कितनी आह्लादक छटा अहो !
कितनी पावन मंगल वेला !
यह मोहक बहुरंगी वर्षा !
वर्षा में सुषमा का मेला !

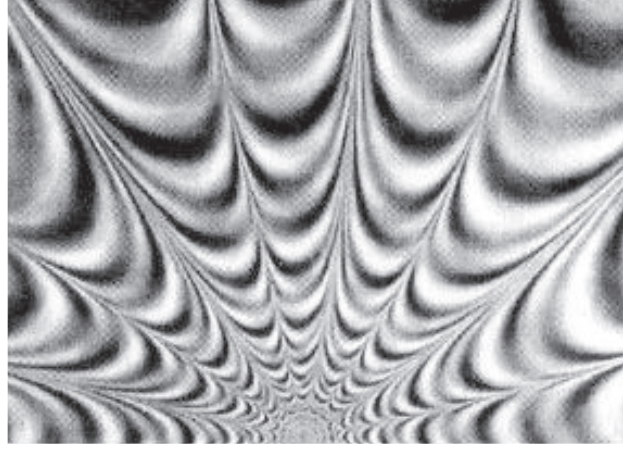
उत्तरी भाग में उपवन के
आकर्षक एक सरोवर है ।
तट पर निर्मित स्फटिकासन से
लगता अत्यन्त मनोहर है ॥

है पृष्ठभाग में सघन, हरित
लहराता पीपल का तरुवर ।
छाया प्रदान करता उसको
जो सुस्ताता सिंहासन पर ॥

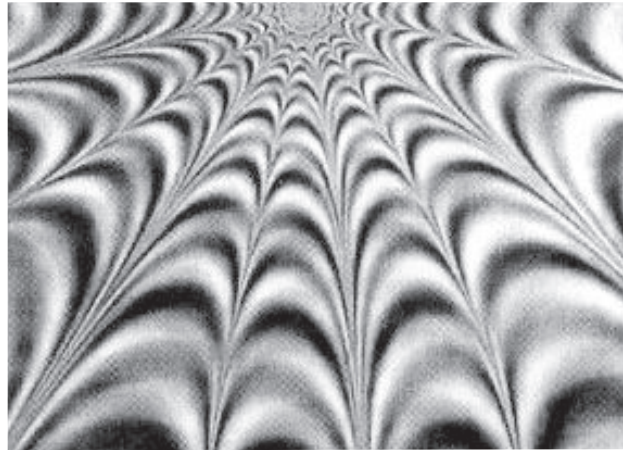
आसन पर शोभित हो कुमार
प्राकृतिक छटा में लीन हुआ ।
तरु-वल्लरियों, सर-सुमनों की
सुषमा-सागर का मीन हुआ ॥

पीपल का पत्ता एक हरा
इतने में टूट गिरा सम्मुख ।
सुकुमार दहल-सा गया देख
हा, दैव हुआ इतना दुर्मुख !

सौन्दर्य और सुख धरती का
रहने देता यदि तू अभंग
तो जीवन में खिलता अविरल
अभिराम, अनोखा एक रंग ॥



२
निमित्त



(२)

अकस्मात् ही एक आर्त स्वर
कानों से टकराया ।
खिलने से पहले ही कोई
फूल कहीं कुम्हलाया ॥

पड़ी सुनाई ध्वनि इतने में
विलख-विलख रोने की ।
सूचक है जो दुर्निवार-
दुर्घटना के होने की ॥

हृदयवेधिनी चीख शून्य में,
कुछ विलीन हो जाती ।
करती हुई विदीर्ण गगन को
फिर श्रुति से टकराती ॥

निस्संदेह कहीं पर भीषण
विद्युत्पात हुआ है ।
किसी विकस्वर मृदुल कुसुम पर
वज्राघात हुआ है ॥

कांप उठा सुकुमार श्रवण कर
अन्तर्वेधक रोना ।
क्या पीतल भी हो सकता है
यह प्रभात का सोना ?

स्वर्णिम, सुखद, मनोरम वेला
है मुद-मंगलकारी ।
बनी फूल की कली किसी के
लिए किन्तु चिनगारी ॥

सुप्रभात, विख्यात सदा से
है मधुरस का दाता ।
हुआ आज ही ज्ञात—हलाहल
विष भी तू बरसाता ॥

शोकाकुल, संतप्त दिलों को
जो आकर सरसाता ।
वही किसी पर निष्ठुर बन कर
है तलवार चलाता ॥

पुनः करुण क्रन्दन इतने में
उसी दिशा से आया ।
राजपुत्र को जिसने व्याकुल,
विह्वल, व्यथित बनाया ॥

दूर्वा का कालीन बिछा है
श्यामल, सघन, मृदुलतर ।
जिस पर क्रीड़ा करने आता
खग-कुल उतर-उतर कर ॥

आतुरता, संभ्रमवश उस पर
चला कुमार अकेला ।
पर संकल्प-विकल्पों का है
मनोभूमि पर मेला ॥

उपवन के पश्चिमी द्वार पर
दृश्य दुखद था ऐसा ।
अपने जीवन में न कभी भी
देखा उसने वैसा ॥

मर्माहत, निस्तब्ध, शून्य-सा
जन-समुदाय खड़ा है ।
वातावरण देख कर लगता
सब कुछ ही उजड़ा है ॥

नगरसेठ का सुत इकलौता
प्राणों से भी प्यारा ।
एकमात्र आलम्बन घर का
था कुल का उजियारा ॥

क्रूर काल ने उस पर अपना
घातक पंजा मारा ।
छूट रही अगणित आँखों से
इसीलिए जलधारा ॥

शोक ! शोक !! सर्वत्र शोक ही
शोक दृष्टिगत होता ।
मानव की क्या बात, पिघल कर
पत्थर भी है रोता ॥

सात दिवस पहले शादी का
उत्सव जहां अनूठा
वहीं प्रलय-सा आज मचा है
भाग्य-देवता रूठा ॥

कल तक जो गाए जाते थे,
हँसी-खुशी के गाने।
आज अचानक कहीं खो गए
वे संगीत सुहाने ॥

धूमधाम से गई मनाई,
कल तक जहां दिवाली।
वहीं धधकती है अब होली
दिल दहलाने वाली ॥

कल तक नाच रही थी मादक-
जीवन की अभिलाषा।
आज रंग में भंग हो गया
छाई घोर निराशा ॥

देखे जाते थे भविष्य के
कल तक सुन्दर सपने।
अपने को ही काट रहे हैं
आज वसन भी अपने ॥

शव से लिपटा हुआ मृतकवत्
मूर्च्छित तात पड़ा है।
सुत-वियोग के दुर्द्धर विष से
रोम-रोम अकड़ा है ॥

सलिल आदि के सदुपचार से
सेठ होश में आता।
तीव्र वेदना के कारण फिर
निश्चेतन हो जाता ॥

स्वजनों के संतत प्रयत्न से
पुनः चेतना जगती ।
सभी दिशाएं स्तब्ध, मूक, जड़,
श्रीविहीन-सी लगती ॥

आगे-पीछे, दाएं-बाएं
सन्नाटा-सा छाया ।
कुटिल, जटिल दुर्दैव !
दुराशय कैसी तेरी माया ?

भूधर को भी भुजबल से नर
दूर ठेल सकता है ।
क्रूर विषम परिहास नियति का
पर न झेल सकता है ॥

आकुल-व्याकुल परिजन, सबके
अस्त-व्यस्त मानस हैं ।
इस उद्वण्ड मौत के आगे
सब असहाय विवश हैं ॥

टूट अभ्र-सा पड़ा सेठ पर
फटी जा रही छाती ।
इस दीपक की भी बुझने को
भक्-भक् करती बाती ॥

गिरती, पड़ती फूट-फूट कर
उधर रो रही माता ।
यह कैसा दुर्दिन दिखलाया
मुझको हाय ! विधाता !

मणि खो कर मणिधर पल भर में
अपने प्राण गँवाता ।
जीवनमणि खोकर भी अब तक
तड़फ रही मैं माता ॥

वेग मोह का आँखों के पथ
झरना बन कर फूटा ।
उस प्रवाह में धीरज का भी
धीरज सारा टूटा ॥

कौन दुष्ट वह ? जो यह कहता-
मरा तुम्हारा बेटा ।
कर बचपन को याद, रूठ यह
आज धरा पर लेटा ॥

इसे मना लूंगी क्षणार्ध में
कडुवा-मीठा कह कर ।
पलक झपकते उठ बैठेगा
मां की व्यथा न सह कर ॥

कभी रूठना, कभी मचलना
बातें हैं बचपन की ।
अब तो नियमित-सी चर्या थी
मातृचरण-वन्दन की ॥

घर से बाहर जाता जब भी
पहले शीष झुकाता ।
वापिस आते ही माता के
आगे फिर झुक जाता ॥

कुल-दीपक कुल-परम्परा को
तोड़ नहीं जा सकता।
बिना प्रणाम किए वह मां को-
छोड़ नहीं जा सकता ॥

अरे, धरा भी कुछ-कुछ गीली,
क्या रजनी भी रोई?
बिछुड़ गया है क्या उससे भी
उसका बेटा कोई?

नितुर मौत! मैं तेरा स्वागत
करती हूं तन-मन से।
ले चल मुझको उठा न मेरा
नन्दन किन्तु भुवन से ॥

लगी आग कण-कण में फिर भी
जली नहीं क्यों माता?
यह कैसा अन्याय किया है
तूने हाय विधाता!

घाव निदारुण, मर्मान्तक है
पर किसको दिखलाऊं?
कहां जड़ी भी ऐसी जिसका
इस पर लेप लगाऊं ॥

यों विलाप करती धड़ाम से
गिरी अचेतन हो कर।
लगे सुबकने सभी उपस्थित
पुरजन भी धृति खो कर ॥

कैसे हो अन्त्येष्टि, मृतक से
सेठ स्वयं लिपटा है।
सुत-वियोग से विकल पिता का
जाता हृदय फटा है ॥

रुद्धवाक्, हतचेष्ट सेठ को
पुनः होश जब आया।
निकली ऐसी चीख, समूचा
परिसर ही थर्राया ॥

महावीर की वाणी का
मर्मज्ञ और अनुयायी।
श्री जिनदास सुव्रती श्रावक
अन्तर-अनुसंधायी ॥

विगत निशा में पौषधव्रत कर
उसने अलख जगाया।
दाहक्रिया में इसीलिए वह
कुछ विलम्ब से आया ॥

यह मोहाविल दृश्य देख कर
वह भावुक हो आया।
अमृतोपम अध्यात्म तत्त्व का
उसने रस बरसाया—

‘पच्छा पुरा व चइयव्वे’ है
वीतराग की वाणी।
‘गब्भत्था वि चयंति माणवा’
है चिर सत्य कहानी ॥

जोड़ सके जो पुनः किसी की
प्राण-शृंखला टूटी ।
किसी विपिन में हुई न पैदा
अब तक ऐसी बूटी ॥

मृतक मनुज जी उठे, न जग में
ऐसा मंत्र कहीं है ।
आयु बढ़ सके एक विपल भी
ऐसा तंत्र नहीं है ॥

सैन्य-यंत्र-आयुध-बल चलता
नहीं काल के आगे ।
यह निःशंक छिन्न कर देता
सबके जीवन-धागे ॥

व्यन्तर, भूत, पिशाच आदि से
इसे न लगता भय है ।
बिना सूचना दिए उन्हें भी
ले जाता निर्दय है ॥

जन्म-मरण के चक्रव्यूह में
फँसे सकल नर-नारी ।
योगी, यति, संन्यासी, त्यागी
आती सबकी बारी ॥

इष्टदेव से भी न कभी भी
मुड़ा मौत का रुख है ।
प्रस्तुत हो जाती हठात् यह
उनके भी सम्मुख है ॥

साध्य व्याधि की करो चिकित्सा
कभी न हिम्मत हारो।
है असाध्य, अजेय किन्तु जो,
नियति मान स्वीकारो ॥

सकल विश्व में मौत, बुढ़ापा
ला-ईलाज कहलाते।
धन्वन्तरि-से कुशल वैद्य
उपचार नहीं कर पाते ॥

‘धम्मं सरणं पवज्जामि’
जीवन में सूत्र उतारो।
समझो, समझाओ परिकर को,
मृत काया संस्कारो ॥

विधि की विडम्बना को जैसे-
तैसे हाय सहूंगा।
‘सुत की हो अन्त्येष्टि’ न सोचा-
ऐसा कभी कहूंगा ॥

साथ चिता के सभी दिलों में
लगी सुलगने ज्वाला।
इस दिन के ही लिए हाय! क्या
तनय, तुझे था पाला ?

खिन्न-विषण्णमना परिजन सब
चले विलखते रोते।
पर कुमार चिन्तन-सागर में
लगा लगाने गोते—

यह क्या जीवन, जिसके आगे-
पीछे मौत खड़ी है।
कभी किसी को भी निश्चित न
मिलती एक घड़ी है ॥

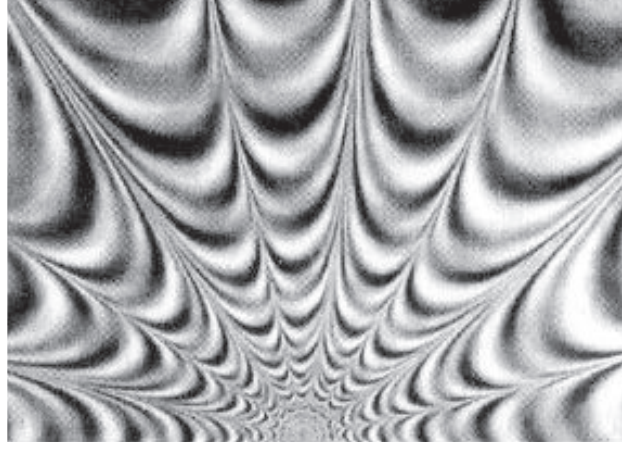
गिद्ध-मण्डली मांस-पिंड पर
ज्यों रहती मँडराती।
मृत्यु प्राणियों को वैसे ही
खाते नहीं अघाती ॥

मृगछौने के पीछे जैसे
लगा नृशंस शिकारी।
जीवमात्र के पीछे वैसे
लगी मौत हत्यारी ॥

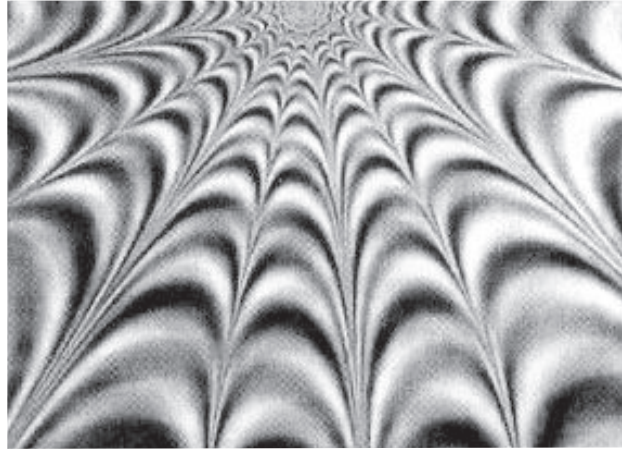
जहां नहीं तम-तोम, सर्वदा-
रहता जहां सवेरा।
पहुँच न जहां मृत्यु की, होगा-
वही लोक अब मेरा ॥

महावीर के उपदेशों का
मैं अनुसरण करूंगा।
उनकी पदरज शीष चढ़ा कर
संचित कलुष हरूंगा ॥

संयम, तप, स्वाध्याय, ध्यान से
भावित कर कण-कण को।
कालजयी बन पार करूंगा
भीषण भवकानन को ॥



३
प्रश्नोत्तर



(३)

मणिमय स्वर्णिम सिंहासन पर
मगधाधिप शोभा पाते ।
पंक्तिबद्ध आसीन सचिवगण
सुघड़ व्यवस्था दरसाते ॥

नील गगन के नक्षत्रों में
जो शोभा रजनीपति की ।
राज्यसभा में वही महत्ता
थी श्रेणिक अवनीपति की ॥

कैसे हो विस्तार राज्य का ?
कैसे विकसित हो व्यापार ?
मगध राष्ट्र की कीर्ति-पताका
फहरे सात समुद्रों पार ?

हीरे, पत्ते, स्वर्ण, रजत से
कैसे भरे रहें भण्डार ?
अस्त्र-शस्त्र-बल के आगे हो
नम-मस्तक सारा संसार ?

आँख उठा कर देख न पाए
कोई राजगृही की ओर ।
सेनापति के सुदृढ़ करों में
देश-सुरक्षा की हो डोर ?

सुगठित और संगठित सेना
प्रस्तुत करे समय पर प्राण ।
अपने जनपद की माटी पर
जाग्रत रहे सदा अभिमान ॥

प्रजाजनों के साथ नृपति का
पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध ।
एक दूसरे के सुख-दुख से
हो समान सबका अनुबन्ध ॥

प्रसन्नता की लहर अनूठी
हो सम्पूर्ण राज्य में व्याप्त ।
जीवन-यापन के हों सबको
सहज सुलभ साधन पर्याप्त ॥

बहुआयामी चिन्तन का क्रम
चलता मन्त्री-मंडल में
और क्रियान्विति भी हो जाती
उसके अनुवर्ती पल में ॥

इसी समय सुकुमार सभा में
सार्थक भाव लिये आया ।
सुन्दर आकृति, गति गजेन्द्र-सी
कमल सदृश कोमल काया ॥

पूज्य पिता की अनुमति पा कर
बोला मन्त्र, मधुर स्वर में-
'पूर्ण विरति की करूं साधना
उठी भावना अन्तर में ॥

महावीर के निर्देशन में
आराधन कर संयम का ।
करूं प्राप्त निर्वाण, जहां पर-
दांव नहीं चलता यम का ।’

‘यह क्या बोल रहे हो बेटा ?
यह क्या सोच लिया मन में ?
सत्ता, सुख-सुविधा, विभुता की
कमी कौन-सी जीवन में ?

दुर्लभ, दिव्य, अपार संपदा,
तुम इसका उपयोग करो ।
मगध राज्य की महती श्री का
अव्यवहित उपभोग करो ॥’

‘जिस दरिद्र ने सपने में भी
किया न श्री का दर्शन है ।
सच कहता हूं पूज्य पिताजी,
उसका त्याग प्रदर्शन है ॥

त्यागी वही पुरुष होता, जो-
प्राप्त वस्तु को ठुकराता ।
सुमनों का आवास छोड़ कर
शूलों का पथ अपनाता ॥

आधि-व्याधि के विकट वलय में
जब फँस जाते हैं तन-मन ।
कण्ठ कृतान्त पकड़ लेता तब
वित्त न बनता आलम्बन ॥

लिये हाथ में फूटी कौड़ी
यहां न कोई भी आता।
जो कुछ जोड़ा, यहीं छोड़ कर
खाली हाथ चला जाता ॥’

‘माता और पिता को बेटा!
तू प्राणों से प्यारा है।
कुल की ज्योति कहूं या कह दूं
जीवन की रसधारा है ॥

सुन तेरी यह बात अकल्पित
दिल में मोहोद्रेक हुआ।
एक अवांछित, अनाहूत, कटु-
पीड़ा का अतिरेक हुआ ॥’

‘दुर्व्यसनी, निर्गुण कुपुत्र को
देता कितना प्यार पिता?
निर्विकल्प अपनत्व निभाता
कब स्वार्थी संसार पिता!

सीमा में आबद्ध राग को
दो असीम विस्तार पिता!
सारी प्रजा आपकी संतति,
देखो दृष्टि प्रसार पिता!’

‘गिरि-गह्वर में जिसे ढूंढते
जिसे खोजते वन-वन में
वह तो अन्तर्हित है बेटा!
अपने ही मन-कानन में ॥

नाभि-कमल में कस्तूरी, पर-
मृग तो गंध-विलासी है।
भटक-भटक कर प्राण गँवाता
मीन सलिल में प्यासी है ॥’

‘घट में हो कर भी अदृष्ट जो
उसे प्रकट करता गृह-त्याग।
पहली शर्त साधना की है—
छूटे स्वजनों से अनुराग ॥

बनता है एकान्तवास भी
महानन्द का एक निमित्त।
परिकर से आकीर्ण व्यक्ति का
हो सकता क्या सुस्थिर चित्त ?’

‘तीन आश्रमों का अवलम्बन
माना गया गृहस्थाश्रम।
इसके ही द्वारा तीनों का
संचालित है जीवनक्रम ॥

सद्गृहस्थ का जीवन भी तो
धर्म-कर्म का साधन है।
इससे विमुख बनाने वाली
दीक्षा एक पलायन है ॥’

‘हो कर भय-संत्रस्त भागना
कहते उसे पलायन हैं।
हो कर ऋण से ग्रस्त भागना
कहते उसे पलायन हैं।

हो कर विभव-विहीन भागना
कहते उसे पलायन हैं।
हो कर व्यसनाधीन भागना
कहते उसे पलायन हैं ॥

दीक्षा का उद्देश्य शान्ति से
रहे सदा मन ओत-प्रोत।
अन्तस्तल में सहज प्रवाहित
हो समाधि का अविरल स्रोत।

लब्ध शक्ति का और समय का
कोई अंश न जाये व्यर्थ।
जागरूकता का व्रत ले कर
दीक्षित होते शूर, समर्थ।’

‘कष्टबहुल होती मुनिचर्या,
सुख-सुविधा का काम नहीं।
जीवन भर चलना ही चलना,
पथ में कहीं विराम नहीं।

सदा राजसी ठाट-बाट में
मेरा प्यारा पुत्र पला।
कैसे सह सकता वह आतप ?
जो छाया में भी न चला ॥’

‘आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न, यह-
सूत्र जिसे रहता है याद।
किसी परिस्थिति में भी उसके
मन में हो सकता न विषाद ॥

आत्मा अजर, अनामय, अक्षत,
व्यथाग्रस्त है मात्र शरीर ।
प्राप्त भेद-विज्ञान जिसे यह
हो सकता वह नहीं अधीर ॥’

‘अनासक्त निस्पृह भावों से
तर सकते हैं गृहवासी ।
मार्ग ढूंढते ही रह जाते
कुछ ममताविल संन्यासी ॥

पुत्र! चैतसिक पवित्रता में
ही संन्यास उतरता है ।
वह गृहस्थ की हो या मुनि की
भेद नहीं कुछ करता है ॥’

‘पवित्रता के लिए चाहिए
पूर्वार्जित सात्त्विक संस्कार ।
पवित्रता के लिए चाहिए
तप, जप, संयम का आधार ॥

पवित्रता के लिए चाहिए
ध्यान-साधना का उत्कर्ष ।
पवित्रता के लिए चाहिए
राग-विरति का नव आदर्श ॥

एक गृही के लिए न संभव
रहे किसी से कुछ न लगाव ।
इसीलिए प्रत्येक स्नायु में
रहता एक खिचाव, तनाव ॥

कज्जल की कोठी में रहना
किन्तु न करना काले हाथ ।
चन्दन-सी निर्विषता दुर्लभ
रह कर नित भुजगों के साथ ॥’

‘पग-पग पर बन्धन ही बन्धन,
पग-पग पर मर्यादा है ।
मार्ग नहीं होता मुनियों का
बेटा ! सीधा-सादा है ॥

यह मत खाओ, यह मत पीओ,
यह न करो, वह भी न करो ।
त्याग सभी अभिलाषाओं को
संयम के रण में उतरो ॥’

‘मर्यादा-बन्धन में धरती-
आसमान-सा अन्तर है ।
इन दोनों को एक मानना
होती भूल भयंकर है ॥

मर्यादा वह कवच, जिसे नर-
स्वेच्छा से अपनाता है ।
बन्धन एक विवशता, थोपा-
जो बलपूर्वक जाता है ।’

‘बेटा ! दीक्षित हो जाते हैं
भावुकतावश अगर किशोर ।
आकर्षित हो स कते हैं वे
यौवन में भोगों की ओर ॥

काम-सुखों से वंचित रह कर
कुंठित नर भरते निश्वास ।
मनोचिकित्सक भी कहते—
वे हो जाते विक्षिप्त, निराश ॥’

‘पूज्य पिताजी! कथन आपका
लगता नहीं सत्य से दूर ।
तन की मांगें ठुकराने से
प्रतिक्रिया होती भरपूर ॥

किन्तु काम-सुख से भी ज्यादा
मिल जाता जिसको आह्लाद ।
सपने में भी उस साधक को
नहीं सता सकता उन्माद ॥’

‘दीक्षा एक दमन है बेटा !
दीक्षा इच्छाओं पर चोट ।
दमित वासनाओं का होता
यदा-कदा भारी विस्फोट ॥

भूत, प्रेत से अधिक भयावह
होता वह विस्फोटन-काल ।
महासाधकों के भी मन में
आ जाता उस क्षण भूचाल ॥’

‘है यह एक सचाई—होता
दमित वासना का विस्फोट ।
उठती हुई वृत्तियां सहती
कभी न अपने ऊपर चोट ॥

किन्तु साधना से जब उनका
होता है उन्नयन विशेष ।
उस ऊँचाई पर साधक को
मिल जाता आनन्द अशेष ॥

मनोरोध या देह-प्रपीड़न
इतना ही न दमन का अर्थ ।
शमन, क्षमा, धृति आदि भाव भी
देने में यह पूर्ण समर्थ ॥

सफल सामुदायिक जीवन में
आवश्यक है इनका योग ।
इस यथार्थ को कैसे जानें
एकाकी रहते जो लोग ?'

'सफलीभूत नहीं हो सकती
सुत ! लघुवय की दीक्षाएं ।
इस वय में परिपक्व न होती
शिक्षा और समीक्षाएं ॥

करो विवाह राजकन्या से
और वंश-विस्तार करो ।
फिर भी बनी विरक्ति रहे तो
मुनि बन आत्म-विहार करो ।'

'संस्कारों का बीजारोपण
होता केवल बचपन में ।
फलते और फूलते वे ही
अथ से इति तक जीवन में ॥

अंतिम घड़ियों तक कण-कण पर
अंकित रहती उनकी छाप ।
उनसे ही संचालित होते
जातक के सब क्रिया-कलाप ॥’

‘अपरिपक्वता हो सकती है
पूज्य पिताजी! बचपन में ।
उसे नकारा जा सकता है
क्या जर्जरित वृद्धजन में ?

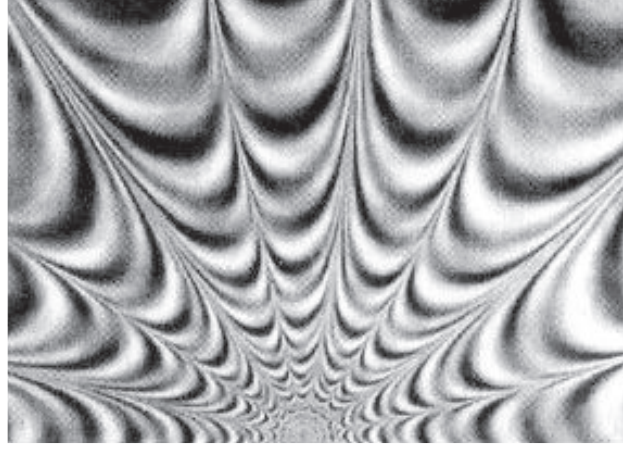
बालक में भी पाए जाते
बुद्धि-लब्धि के अतिशय अंक ।
प्रौढ़, वृद्ध हो जाने पर भी
कुछ रह जाते उनसे रंक ॥

गलकंठी आने पर तोता
रट सकता क्या अक्षर एक ?
बूढ़े बन्दर को न मदारी
देने पाता नृत्य-विवेक ॥

ग्रहणशीलता का होता है
वय विशेष से एक लगाव ।
वृद्धावस्था से स्वभावगत
रहता उसका सदा दुराव ॥

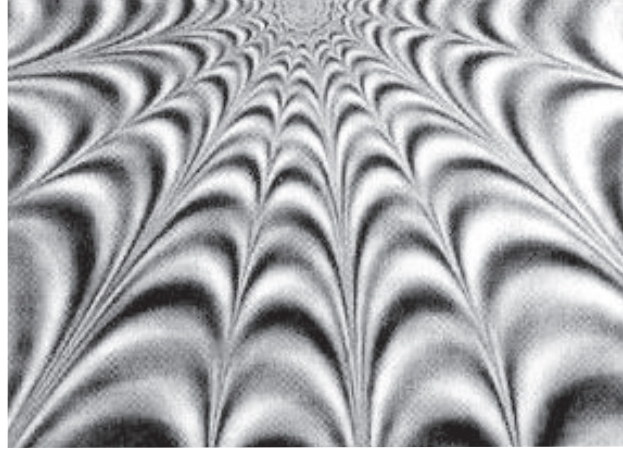
बड़ी व्याधि अध्यात्म दृष्टि से
विवाह को माना जाता ।
कीचड़ में फँसने पर हाथी
किसी तरह न निकल पाता ।

विषय-वासना के जंगल में
 एक बार मन भटक गया ।
 किसी कँटीली झाड़ी में फिर
 जीवन भर ही अटक गया ॥
 हो विच्छिन्न असंख्य कर्णों में
 बिखर गया यदि पारद है ।
 उसे बटोर न पाता कर से
 कोई कला-विशारद है ॥
 वृद्धावस्था तक आते मन
 हो जाता बहुआयामी ।
 उसको केन्द्रित करता कोई
 विरला ही मन का स्वामी ॥
 सैकत-सेतु, सलिल-रेखा-सी
 काया-माया नश्वर है ।
 भोग घिरे रहते रोगों से
 यौवन को कल का डर है ॥
 संपद् है आक्रान्त विपद् से,
 सुख पर दुख की छाया है ।
 जिसे विकस्वर देखा प्रातः
 सायं वह मुरझाया है ।'
 सुन अकाट्य उत्तर प्रिय सुत के
 नरपति परम प्रसन्न हुए ।
 विरह-चित्र उभरा अगले क्षण,
 रोम-रोम अवसन्न हुए ॥
 भारी मन से बोले भूपति—
 बेटा! पुनर्विचार करो ।
 अपनी क्षमता को तोलो, फिर
 असिधारा पर पांव धरो ॥'



४

स्वप्नादेश



(४)

पूर्णमा का चांद नभ में चमकता है
त्रस्त होकर तम गुहा में सिमटता है ।
कर कठिन कर्तव्य का निर्वाह दिनभर
कर चुका है क्षितिजरेखा पार दिनकर ॥

टिमटिमाते दीपकों से सजा थाली
है मनाती प्रकृति पुलकित नव दिवाली ।
भर चुकी है तारकों से गगन-प्याली,
जगमगाती चांदनी की छवि निराली ॥

चंद्र-किरणें अमृत जग को बांटती हैं
स्वेद, श्रम हर, ताप भव के काटती हैं ।
व्योममण्डल से थिरकती आ रही हैं
लोरियां मृदु, मंद्र स्वर में गा रही हैं ॥

चन्द्रमा को देख मुग्ध चकोर फूला
प्रेमरस में डूब कर निज भान भूला ।
है निशा गहरा रही ले साज अपना
देखता है नए दिन का विश्व सपना ॥

मुदित मारुत मंद गति से डोलता है
विरसता में रस मधुरतम घोलता है ।
चर, अचर सब जीव जग के सो चुके हैं
नींद में वे स्वत्व अपना खो चुके हैं ॥

सलज वसुधा-नववधू की गोद भरने
दिग्वलय से ओस-मुक्ता लगे झरने ।
जुगनुओं की चमक फीकी पड़ रही है
अभ्र से अभिराम आभा झड़ रही है ॥

महक मोहक छोड़ती है रातरानी
कह रही संसार से अपनी कहानी—
क्षुद्र, निर्बल मच्छरों को मैं भगाती
मणिधरों को पास मैं लेकिन बुलाती ।
शक्ति को ही पूजता संसार सारा
शून्यबल को कौन देता है सहारा ?

कुमुद खिलकर श्री जलाशय की बढ़ाते
जगत को हँसना हँसाना है सिखाते ।

धनद दिशि का अटल प्रहरी ध्रुव सितारा
दे रहा पथ में दिशाबोधक उजारा ।
पथिक-रक्षा-हेतु तत्पर सप्त ऋषिगण
परस्परता प्रकट करते हैं सनातन ॥

दूर से ही दर्शकों के दिल लुभाती
गगनगंगा है अलौकिक छवि दिखाती ।
उडुगणों की अनुत्तर शोभा सुहाती
पश्चिमा में राशिमाला झिलमिलाती ॥

रोहिणीपति नभोमण्डल मध्य आए
राशि कन्या सह विराजित मुस्कराए ।
कौमुदी में स्नात हो कर नगर निखरा,
लग रहा है—धरित्री पर स्वर्ग उतरा ॥

भंग करते शांति को हैं मात्र प्रहरी
अधिक चौकस, हुई ज्यों-ज्यों रात गहरी ।
गगनचुम्बी सौध शोभित सुरभवन-सा
दृश्य प्रस्तुत भूमि-नभ के सम्मिलन-सा ॥

सुखद, सुरभित सुमन-शय्या, खुली छत है
नृपति-नंदन नयन मूंदे शयनरत है ।

अर्ध-निद्रित अर्ध-जाग्रत-सी अवस्था
तभी बनती स्वप्न-दर्शन की व्यवस्था ।
सभी सपने नहीं सार्थक, सफल होते,
अधिकतर तो चंचला ज्यों चपल होते ॥

स्वप्न-श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, दृष्ट, कल्पित,
बिम्ब उसका, जागरण में जो कि लक्षित ।
दोष-त्रय की विकृति से भी स्वप्न आते
इन सभी को स्वप्नविद् निष्फल बताते ॥

मात्र भाविक स्वप्न में जो कुछ उतरता,
चित्र उसमें ही अनागत का उभरता ।

देखता सुकुमार सपना मध्यनिशि में—
दिव्य द्युतिधर खड़ा कोई पूर्व दिशि में ।
कह रहा वह-वत्स! यह क्या कर रहा है?
क्यों भुजाओं में गगन को भर रहा है?
है नहीं संन्यास का यह समय तेरा
मान ले तू वत्स! हितकर कथन मेरा।

समय से पहले नहीं पकती फसल है
समय से पहले मधुर होता न फल हैं।
समय से पहले न आता रवि गगन में
समय पर शोभित शशी नक्षत्र-गण में ॥

अभी तो भोगावली अवशिष्ट तेरी
विघ्न-संकुल राह है उद्दिष्ट तेरी।
है नहीं संन्यास का यह समय तेरा
मान ले तू वत्स! हितकर कथन मेरा ॥

फिर दिखाता हूं तुझे तेरा अनागत
रह सकेगा तू न सुस्थिर और संयत।

पूर्णतः बदला अचानक दृश्य सारा
एक सागर, नहीं जिसका है किनारा।
अननुमेय, अपार जल-भण्डार जिसका,
वीचिमालाकुल अगम आकार जिसका,
उठ रहा गंभीर, घोर निनाद जिसमें,
विहरते हैं मकर निर्मर्याद जिसमें ॥

एक उत्साही युवक तट पर खड़ा है,
बाहुबल पर भरोसा जिसको बड़ा है—
गरजता है सिन्धु तू, पर मैं न डरता
ठहर! तेरा थाह पाने मैं उतरता ॥

एक बूढ़ा लिए लाठी खड़ा दाएं
रोकता है उसे, लेता है बलाएं।
पर युवक आतुर, न कुछ भी मानता है
शक्ति की सीमा न अपनी जानता है ॥

उस अतल जलराशि में वह कूद पड़ता
गया बढ़ता ऊर्मियों के साथ लड़ता ।
किन्तु थोड़ी देर में थकने लगा है,
अब सहारे के लिए तकने लगा है ॥

हो गया निःशेष भुजबल, नहीं चारा,
भंवर में जाकर फँसा, छूटा किनारा ।
हुआ साहस पर सघन हिमपात जैसे,
सन्निकट हो मृत्यु का आघात जैसे,
छा गई घनघोर चिन्ता की घटाएं,
प्राण रक्षा के लिए अब छटपटाएं ॥

शक्ति का उत्साह से जब मेल होता,
हर विपद् को झेलना तब खेल होता है
रिक्त जो इनसे, विजय वह पा न सकता,
सफलता के फल रसीले खा न सकता ॥

जलाधिष्ठित देवगण करुणा दिखाओ,
इस कुटिल आवर्त से सत्वर बचाओ ।
क्या पुकारूं ? दनुज तो ठहरे दनुज ही,
मनुज का आत्मीय आखिर है मनुज ही ॥

मनुज कोई हो यहां तो निकट आओ,
विकट संकट की घटाओं को हटाओ ॥

डालता है दृष्टि चारों ओर कातर
किन्तु लगती सब दिशाएं भी निरुत्तर ।
खड़ा सिर पर काल भीषण व्याल-सा है
हो गया असहाय, दीन, निदाल-सा है ॥

स्वप्न संख्यातीत मन में रह चुके हैं,
कल्पना के महल सारे ढह चुके हैं।
लगा सहसा—वही बूढ़ा बोलता है,
मन्द स्वर में मधुरिमा-सी घोलता है ॥

द्वीप एक समीप, मत अवसर गँवाओ,
जुटा कर हिम्मत वहां तक पहुँच जाओ।
वह प्रकाशस्तम्भ ही आधार होगा,
वहां जाते ही हृदय निर्भर होगा ॥

कथन यह तम में बना जैसे उजारा,
डूबते को मिला तिनके का सहारा।
हो गया ओझल पलक में दृश्य पहला,
उपस्थित सम्मुख हुआ हिमगिरि रुपहला ॥

सजग संतत वीर प्रहरी-सा खड़ा है
गर्व आर्यावर्त को जिस पर बड़ा है।
बना संस्कृति की सुरक्षा में सहायक
मनोमोही, नयनयुग को तृप्तिदायक ॥

भव्यता, रमणीयता की मूर्तियां-सी
या धरा की न्यूनता की पूर्तियां-सी
चोटियां स्पर्धा गगन से कर रही हैं,
प्रकृति का प्रांगण छटा से भर रही हैं ॥

जो समुन्नत भाल भारतवर्ष का है
मुखर साक्षी देश के उत्कर्ष का है।
दिव्य औषधि-बूटियों से तन जड़ा है,
मूल्य आयुर्वेद का जिनसे बढ़ा है ॥

एक छात्र उपत्यका पर खड़ा अड़ कर-
मैं चढ़ंगा आज इस गिरि के शिखर पर ।
कह रहे गुरु-रुको, सोचो, सत्त्व तोलो ।
अनालोचित दुराग्रहपूर्वक न बोलो ॥

उपादान, निमित्त दोनों ही अधूरे
इसलिए होंगे नहीं अरमान पूरे ।
युक्ति से अनभिज्ञ, अनुभव-बल नहीं है
शिखर छूना वत्स! कौतूहल नहीं है ॥

प्रतिफलन यह दीर्घकालिक साधना का,
अहर्निश उद्देश्य की आराधना का ।
विषम, दुर्गम मार्ग फिसलन से भरा है,
हर चरण पर पतन का संकट खड़ा है ॥

गुरुजनों का मान अपना मान होता
शिष्य के शिष्यत्व की पहचान होता ।
नहीं अनुशासन जिन्हें स्वीकार होता,
बन्द उनकी सफलता का द्वार होता ॥

समय आने पर करोगे यदि चढ़ाई
गुरु स्वयं आकर तुम्हें देंगे विदाई ॥

‘उपकरण की नहीं कोई भी अपेक्षा’
चल पड़ा कर सभी बातों की उपेक्षा ।
चढ़ा ज्यों-ज्यों सांस भी चढ़ने लगा है,
लड़खड़ाए पांव, भय बढ़ने लगा है ॥

लगी इतने में भयंकर एक ठोकर
गिर पड़ा अस्तित्व पर अधिकार खो कर।
गर्त के गंभीर तल की ओर जाते
बाहुओं में उसे वे ही गुरु उठाते ॥

कर उसे आश्वस्त छाती से लगाया,
हुई अंतर्धान सारी पूर्व माया।
तीसरा आश्चर्यकारक दृश्य आया-
पूर्णिमा का चांद नयनों में समाया ॥

अलौकिक आनन्द का अवदात निर्झर
सौम्य, शीतल चांदनी पर मुग्ध निर्जर।
विभा का सित शुभ्र चारों ओर घेरा
हर किरण पर अमित सुषमा का बसेरा ॥

पूर्णतः छविमान है मण्डल शशी का
मध्य में उसके परन्तु कलंक-टीका ॥
जगा राजकुमार पलकें खुल गई हैं
सामने अब दृश्य वे बिल्कुल नहीं हैं।

हो रहे द्युतिहीन प्राची में सितारे,
सुधाकर जाने लगा है उस किनारे ॥
रश्मियां उसका कमल-मुख चूमती हैं
मनोरम सौन्दर्य पर झुक झूमती हैं ॥

सोचता सुकुमार—क्या यह स्वप्न आया ?
या मलिन भवितव्य की यह पूर्वछाया ?
जो मिला आभास, वह उत्तम नहीं है
स्पष्ट स्वप्नादेश, कोरा भ्रम नहीं है ॥

पर प्रबल पुरुषार्थ की कब हार होती ?
घूट विष की भी सुधा की धार होती ॥

पुरुष हूं पुरुषार्थ में विश्वास मेरा
अनुप्राणित इसी से हर श्वास मेरा ।
किस परिस्थिति को नहीं पौरुष बदलता ?
अनुसरण जिसका सदा करती सफलता ॥

यह सितारे तोड़ धरती पर उगाता
फोड़ कर पर्वत, सलिलधारा बहाता ।
यही जीवन के लिए वरदान होता
इसी के द्वारा मनुष्य महान होता ॥

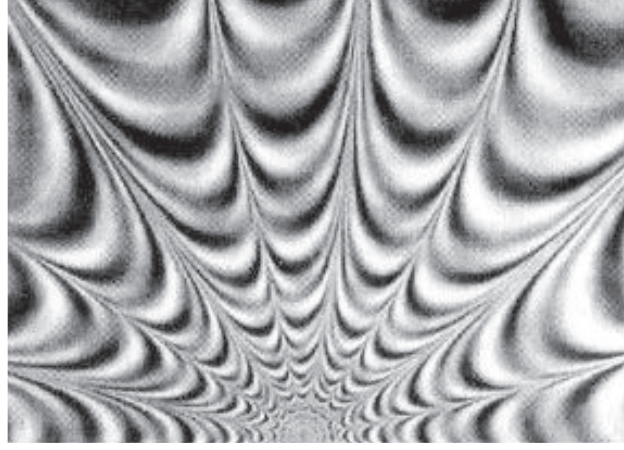
कौनसा वह कार्य, जो साधा न जाता ?
कौनसा वह देव, आराधा न जाता ?
सिद्धियों का वास इस पुरुषार्थ में है
श्रेय, श्री का वास इस पुरुषार्थ में है ॥

यह बदल सकता मनुज की भाग्य-रेखा
यह बदल सकता पुरातन कर्म-लेखा ।
चरण क्षत्रिय के न मुड़ना जानते हैं
विघ्न-बाधा को न वे पहचानते हैं ॥

है अडिग संकल्प फिर आतंक कैसा ?
हृदय में संदेह का फिर पंक कैसा ?
है सुचिन्तित समीक्षित मंतव्य मेरा
श्रमणचर्या ही चरम गंतव्य मेरा ॥

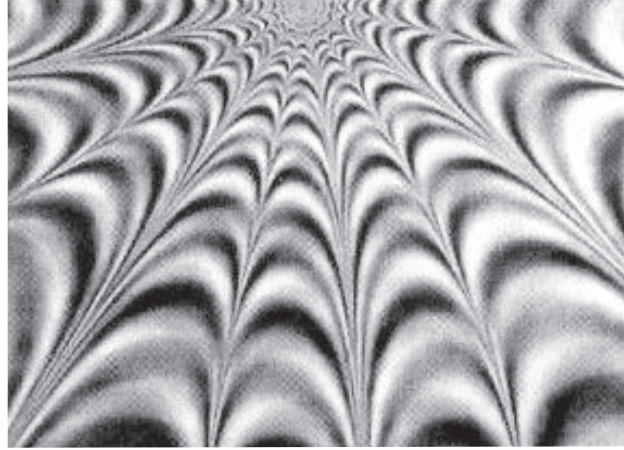
अनवरत सर्वात्मना उस पर चलूंगा
अप्रकम्प प्रदीप बन अविकल जलूंगा ।
ज्योति बांटूंगा अमा की रात में भी ।
वृष्टि धारासार, झंझावात में भी ॥

.....



५

अभिनिष्क्रमण



(५)

उदित रवि के साथ ही मन
मुदित है सुकुमार का ।
चाहता करना यथाविधि
त्याग अब संसार का ॥

शेष कोई भी न दुविधा
चित्त सुस्थिर शान्त है ।
वासना के वलय से
किञ्चित नहीं विभ्रान्त है ॥

श्रमण-व्रत का स्वीकरण क्या
बालकों का खेल है ?
साथ निर्णय के जरूरी
भावना का मेल है ॥

हो परिस्थिति से प्रताड़ित
जो बना अनगार है ।
बहुत संभव साधना
उसको लगे फिर भार है ॥

किन्तु राजकुमार के
मन में नहीं कुछ क्लेश है ।
उदित अन्तःप्रेरणा
कोई न भावावेश है ॥

एक क्षण का भी विलम्ब न
सह्य मंगल कार्य में
धुन लगी है एक ही बस
'मुनि बनूं अनिवार्य मैं' ॥

मूल कारण बीज बनता
वृक्ष जो फलवान है।
लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठा
सिद्धि का सोपान है ॥

वज्र-सा संकल्प—मंजिल-
तक चलेंगे पांव ये।
कुछ न गिनते क्षुत्, पिपासा,
धूप, वर्षा, छांव ये ॥

नगर सारा जल सुगन्धित
से हुआ अभिषिक्त है।
साज-सज्जा आज उसकी
लग रही अतिरिक्त है ॥

रम्य झूलों से सुशोभित
जात्य हय-गजराज हैं।
वाद्ययंत्रों पर मिलाए-
जा रहे सुर, साज हैं ॥॥

बज उठे अनगिन नगाड़े
गूंजते धरणी-गगन।
सज्ज हो गणवेश में
साह्लाद प्रस्तुत सैन्यगण ॥

निज-निजी रथ-निलय में
आसीन अन्तःपुर हुआ ।
राजगृह में आज लगता
अवतरित सुर-पुर हुआ ॥

मुकुट, कुण्डल, मुद्रिका,
भुजबन्ध, मुक्ताहार है ।
श्वेत हस्ती पर हुआ
आरूढ़ राजकुमार है ॥

क्षण विदा के नृप-नयन से
अश्रुधारा बह चली ।
विरह से उत्पन्न अन्तर्-
वेदना वह कह चली ॥

भव भरा दुख, शोक से,
आतंक, भय, संताप से ।
मर्त्य रहता है व्यथित
हर क्षण किसी अनुताप से ॥

आंसुओं के सलिल से नर
स्नान यदि करता नहीं ।
अर्ति के उत्ताप से वह
दग्ध हो मरता कहीं ॥

ताप मन का नयनपथ से
भाप बन कर निकलता ।
हरित होती तभी फिर से
मनुज की जीवनलता ॥

अश्रु की हर बूंद होती
तीर्थजल से कम नहीं ।
तथ्य वैज्ञानिक समझते
अन्य जन सक्षम नहीं ॥

भूप कुछ क्षण तो हुए
निर्भार अश्रु-प्रवाह से ।
किन्तु जलता हृदय रह-रह
सुत-विरह के दाह से ॥

ध्वनित मंगलपाठकों का
सरस मंगलगान है ।
शुभ घड़ी में हो रहा
अभिनिष्क्रमण अभियान है ॥

चल पड़ी चतुरंगिणी
सेना नृपति-निर्देश से ।
राजगृह के मध्य हो
निर्दिष्ट मार्ग विशेष से ॥

पंक्तिबद्ध समान गति से
साथ चरण उठा रहे ।
श्रुति-सुखद पदचाप से
रजकण असंख्य उड़ा रहे ॥

गृह-छतों पर गृहिणियां ले-
मोतियों के हार हैं ।
निर्निमेष निहारती पथ
भूल सब व्यापार हैं ॥

रुद्ध स्वर से गीत मंगल-
कामना के गा रही ।
मौक्तिकों से मुट्टियां भर
स्नेह से बरसा रही ॥

तरुणियां पथ रोक करती
समुद्र मँगलाचार हैं ।
कर रहे सादर सभी की
भावना स्वीकार हैं ॥

जय-विजय हो, जय-विजय
श्री नन्दिषेण कुमार की ।
राह निष्कण्ठक रहे
संसिद्धि के हर द्वार की ॥

धन्य वे, जो कीच से
जाते कमल की ओर हैं ।
धन्य वे, तमभेद करके
जो उगाते भोर हैं ॥

धन्य वे, पार्थिव पगों से
जो भवोदधि तर रहे ।
धन्य वे, जो मृत्यु से
अमरत्व का पथ वर रहे ॥

धन्य है निश्चय तुम्हारा
धन्य संयम-साधना ।
धन्य है आदर्श अनुपम
धन्य-धन्य महामना ॥

धन्य यह तारुण्य, जो-
तप-त्याग से सार्थक बना ।
धन्य जननी-जनक, जो
सुत योग-आराधक बना ॥

हर चरण पर हो सुमंगल
पंथ कुसुमाच्छन्न हो ।
देवगण सर्वात्मना
तुम पर सदैव प्रसन्न हो ॥

हर दशा, अन्तर्दशा
ग्रहमात्र की अनुकूल हो ।
दिग्-विदिक् स्वागत करे
बाधक नहीं दिक्शूल हो ॥

वर्ण कर सकते न वर्णित
मूल्य आशीर्वाद का ।
है न अनुमापक हृदय से-
हृदय के संवाद का ॥

दूर-सम्प्रेषण-प्रविधि
विकसित इसी आधार पर ।
भाव-प्रेषण-ग्रहण जिसमें
भावना के तार पर ॥

भाव जिस पर जो हमारे
क्षुद्र या गम्भीर हों ।
वे वहां पर पहुँच जाते
लक्ष्यवेधी तीर ज्यों ॥

सपदि विद्युत्वेग से
होते स्वतः गतिमान हैं।
भूमि, भूधर, नद, नदी
बनते नहीं व्यवधान हैं ॥

चित्त की एकाग्रता से
शक्ति का केन्द्रीकरण।
दूर तक माध्यम बिना तब
भाव करते अभिगमन ॥

ग्रहणकर्ता हो सजग तो
सरल पूर्ण प्रतिग्रहण।
भाव-सम्प्रेषण कला का
एकमात्र समीकरण ॥

‘मूल्य होता है दवा से-
भी दुआ का सौगुना’।
दूरदर्शी पूर्वजों ने
सोच कर इसको चुना ॥

प्रेमपूरित हृदय से जो
निकलती भाषा सहज।
स्व-पर हित का हेतु बनती
अपरिमित उसकी उपज ॥

पा रहा वैराग्य अनगिन-
आशिषों का पोष है।
विरति की कहता कथा
हर गगनभेदी घोष है ॥

लीन राजकुमार का पर
चित्त है प्रभुचरण में ।
दृश्य व्रत-संस्कार का
अंकित हुआ युग नयन में ॥

पल प्रतीक्षा के अनवरत
अब सिमटते जा रहे ।
इष्ट-साक्षात्कार में
अवरोध हटते जा रहे ॥

नगर-सीमा पार करते
ही निकट उद्यान है ।
सघन वृक्ष अशोक-तल
प्रभु का प्रवासस्थान है ॥

दृश्य पहले ही बहुत
अभिराम था उद्यान का ।
लसित नन्दनवन-सदृश
सान्निध्य पा भगवान का ॥

चन्द्रमणि कृतकृत्य होती
चन्द्रमा के योग से ।
धन्य वह उपवन हुआ
प्रभु-पदकमल संयोग से ॥

दूर से ही पतितपावन
दृष्टिगोचर हो रहे ।
पद्मलोचन, भवविमोचन-
में सभी सुधि खो रहे ॥

भाव-मेदुर आरती
करबद्ध सविधि उतारते ।
भक्तियुत 'वन्दे जिनेश्वर'
एक साथ पुकारते ॥

देह में प्रतिफलित होती-
है कलुष की क्षीणता ।
अर्हत्तों के रूप की
अद्भुत अतः रमणीयता ॥

अप्रतिम सौन्दर्य से जब
जित स्वयं पुरुहूत हो
क्या विचित्र मनुष्य यदि
आश्चर्य से अभिभूत हो ॥

कमल जैसी श्वास से
आती सुगन्धि सुहावनी ।
प्रकट करती आंतरिक छवि
शील, समता से सनी ॥

गात्र से होती विसर्जित
जो सुरभि उत्कृष्ट है ।
वह असुर, नर, देव को
करती सहज आकृष्ट है ॥

सर्वजित की पुण्य सन्निधि
का अपूर्व प्रभाव है ।
इसलिए सब प्राणियों में
प्रस्फुटित सद्भाव है ॥

शोक, भय, विद्वेष, ईर्ष्या-
कलह-कल्मष धुल रहा ।
रक्त में आनन्ददायक
है रसायन घुल रहा ॥

निकलती विद्युत्तरंगें
प्रतिनिमिष हर अंग से ।
पूर्ण भावित हो मनुज की
भावना के रंग से ॥

भाव के अनुरूप ही
रस, गंध हैं, संस्पर्श है—
जैन मत, विज्ञान से
उसका हुआ उत्कर्ष है ॥

कृष्ण, कटु, दुर्गन्धमय-
जिसकी तरंगें हों परुष ।
है न संशय—कुटिल, क्रोधी,
विषयलोलुप वह पुरुष ॥

सौम्य, सित, शीतल, सुगन्धित,
स्निग्ध, शोभन हों तरल ।
निर्विवाद मनुष्य वह
उपशान्त, आध्यात्मिक, सरल ॥

दीखता जो दिव्य पुरुषों-
का रुचिर परिवेश है ।
अमल अंतःकरण का ही
वह स्वरूप विशेष है ॥

व्यक्ति का आभावलय
व्यक्तित्व की पहचान है ।
अंतरंग विशिष्टताओं-
का सही प्रतिमान है ॥

हो रहा इसके सहारे
आज रोग-निदान है ।
हो अनागत का रहा
इसके सहारे ज्ञान है ॥

सहज आकर्षण-विकर्षण-
का प्रमुख यह हेतु है ।
'नर मृतक या प्राणमय है'
इस विषय का सेतु है ॥

योजनों पर्यंत प्रभु की
दीप्ति का आयाम है ।
रोग, मारी, ईतियों पर
जो कि पूर्णविराम है ॥

अहि-नकुल, मार्जार-मूषक
नित्य वैरी जो युगल ।
हो वहां जाती सभी की
शत्रुता विस्मृत सकल ॥

चण्डकौशिक नाम जैसा-
ही भुजंग प्रचण्ड था ।
इधर त्रिशलानन्द का शम,
साम्यभाव अखण्ड था ॥

दंश के द्वारा हुआ
देवार्य से सम्पर्क है ।
कर गया पल में उसे
वह सावधान, सतर्क है—

कौन यह ? जो आज मेरा-
विफल गरल-प्रहार है ।
स्थिर खड़ा, रोमावली में-
भी न भय-संचार है ॥

स्नायुमण्डल, कोशिकाएं
शिथिल मेरी हो गई ।
विकट विष-ज्वाला कहां पर
आज मेरी खो गई ?

ज्ञातनन्दन का प्रभा-
मण्डल प्रशस्त ललाम था ।
ऊर्ध्वगामी चेतना का
तेज प्रबल प्रकाम था ॥

हो गई ऊर्जा उन्हीं की
भुजग में संक्रान्त है ।
हिंस्र ज्वाला क्रोध की
परिणामतः उपशान्त है ॥

प्राप्ति केवलज्ञान की
प्रायः हुई तरुओं तले ।
अप्रतिम दीपक प्रकृति की
गोद में अविकल जले ॥

वृक्ष करते हैं विसर्जित
जो प्रचुर संजीवनी ।
साधना निष्पन्न होने
में सहायक वह बनी ॥

उच्चतम साहित्य-रचना-
भी न होती हर कहीं ।
स्थान पुरुष-प्रमाण भू से-
चाहिए ऊपर कहीं ॥

जो तरंगें थिरकती
सामान्य वातावरण में
वे नहीं सहयोग करती
गहन चिन्तन, मनन में ॥

क्रूर ग्रह के शमन अथवा
स्वास्थ्य के विश्वास से ।
रत्न-धारण की प्रथा
सम्प्राप्त है इतिहास से ।

एकमात्र रहस्य उसका
यह तरंग-प्रभाव है ।
जो बदल कर परिस्थितियां
बदल देता भाव है ॥

नेत्र, पादांगुष्ठ, नख, मुख
शक्तिशाली स्रोत हैं ।
हस्ततल भी सत्त्व से
अत्यन्त ओत-प्रोत हैं ॥

हेतु यह, जो धन्य होते
पद-कमल में शीष धर ।
पूज्यप्रवरों की चढ़ा कर
चरणरज जन शीष पर ॥

विनत बद्धांजलि नृपति ने
निकट आ वन्दन किया ।
स्तुतिपरक शब्दावली सह
भाव अभिनन्दन किया ॥

पुण्य त्रैकालिक प्रकट
आराध्य के दर्शन हुए ।
शिथिल, भंगुर पूर्वसंचित
निविड़तम बन्धन हुए ॥

उच्च अभिलाषा सँजोए
प्रणत राजकुमार है ।
ओष्ठ-सम्पुट में नियंत्रित
भावना का ज्वार है ॥

श्रोतृगण में सम्मिलित
सोल्लास जन-समुदाय है ।
प्रभु-वचन-मुक्ता चयन में
लीन, संयत-काय है ॥

देशना में जो बरसता
अमृत धारासार है ।
विरति-वल्ली के लिए
मृगनखत की बौछार है ॥

शिष्ट, सार्थक, सरल, घृत-मधु-
तुल्य है वाणी मधुर।
ग्राह्य प्राणीमात्र द्वारा
मनुज हो या सुर, असुर ॥

उचित क्षण में प्रस्फुटित
अवनीश के उद्गार हैं—
पुत्र में जागृत प्रभो,
वैराग्य के संस्कार हैं ॥

राज्यसत्ता, स्वजन सबसे
पूर्ण अप्रतिबद्ध है।
मुक्तिपथ का वरण करने
आज यह कटिबद्ध है ॥

दान देना कठिन भोजन,
पात्र, औषध, स्थान का।
कठिनतर लेकिन सुअवसर
पुत्र-पुत्री-दान का ॥

यह परम सौभाग्य—अर्पित
कर रहा मैं तनय को।
है शुभाशंसा रहे
करता प्रवर्धित विनय को ॥

प्रभु-कृपाकांक्षी निवेदन
कर रहा सुकुमार है—
पहुँचना भगवान, मुझको
भव-उदधि के पार है ॥

छा रहा आतंक का
हर सांस पर साम्राज्य है।
अर्हत्तों के पास ही
मिलता प्रशम रस प्राज्य है ॥

विश्वविभु, करुणानिकेतन
सत्य के अवतार हैं।
वीतराग, त्रिकालदर्शी
सृष्टि के शृंगार हैं ॥

क्षान्ति, आर्जव, मुक्ति, मार्दव
विभव है जिनका अतुल।
उग्र तप से कोष अन्तर-
के अनावृत हैं विपुल ॥

आप अशरण के शरण हैं
त्राण हैं अत्राण के।
नाथ आप अनाथ के हैं
प्राण हैं अप्राण के ॥

तीरगामी, निखिल जग को
तारने में दक्ष हैं।
हैं स्वयं संबुद्ध, दाता-
बोधि के निष्पक्ष हैं ॥

दे रहे संसार को
आरोग्य का वरदान हैं।
हैं समाधित, जगत को
करते समाधि प्रदान हैं ॥

आप निर्मल, पारदर्शी
स्फटिक तुल्य नितान्त हैं।
ज्योतिपुञ्ज उदात्त, ज्योतित
कर रहे हर स्वान्त हैं ॥

श्रेष्ठ आयुष्मान्! करुणा-
सिंधु ने उत्तर दिया।
स्नेह से भर स्नेहप्रिय को
चिरप्रकाशी कर दिया ॥

मोह के संवेग से पर-
भर गया नृप का गला।
हृदय की धड़कन बढ़ी,
आँखें गई हैं छलछला ॥

धैर्य धर कर दी अनुज्ञा
अन्ततः प्रत्यक्ष है।
पुत्र, स्वागत में रहे
तैयार उज्ज्वल पक्ष है ॥

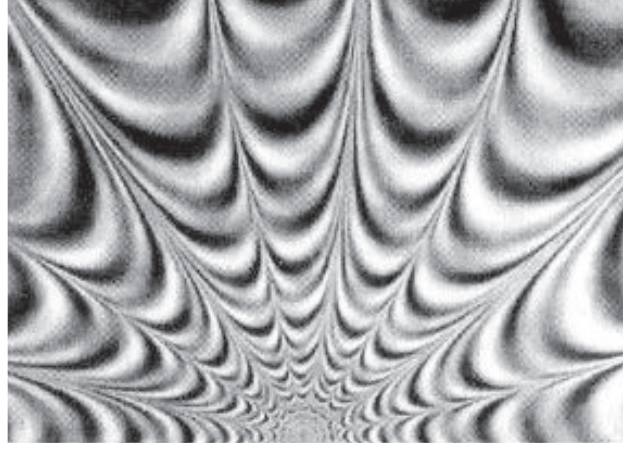
मूल्य संयम का समझना
अधिक जीवन-प्राण से।
प्राप्त करना सिद्धि, सम्यक्-
चरण, दर्शन, ज्ञान से ॥

जो पराक्रम, शौर्य इस क्षण
उत्तरोत्तर वह बढ़े।
अमिट हर पदचिह्न
जग में कीर्तिमान नया गढ़े ॥

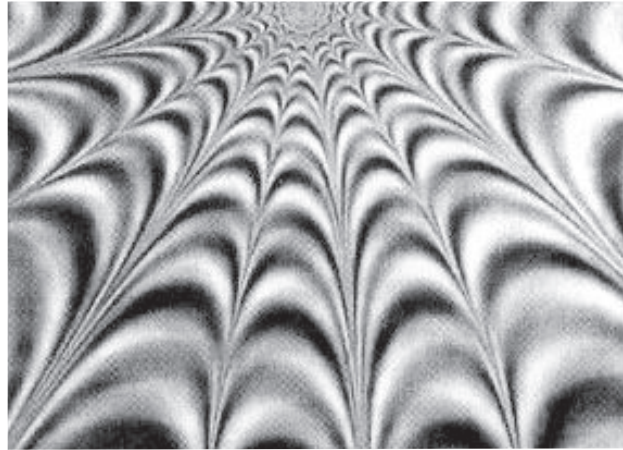
स्वप्न हो साकार अविकल
कल्पना फलवान हो ।
अनुदिवस उपलब्धियों का
सहज अनुसंधान हो ॥

'हूँ कृतज्ञ' कुमार ने कह-
वेश-परिवर्तन किया ।
आभरण सब त्याग, केशों
का त्वरित लुंचन किया ॥

भावधारा है धवल
शोभित धवल परिधान है ।
शुक्ल श्रेणी की दिशा में
कर दिया प्रस्थान है ॥



६
नियति का नाटक



(६)

घटाएं उमड़ रही घनघोर,
धरा पर नाच रहे हैं मोर ।
पपीहा बहुत मचाता शोर,
निरखती जनता नभ की ओर ॥

चंचला चमक रही घन बीच,
खोलती नयन कि लेती मीच ।
निशापति का विलीन आकार,
चाँदनी का न कहीं संचार ॥

तमी का व्याप्त जहां साम्राज्य,
स्थान वह सुधियों द्वारा त्याज्य ।
अतः अपना समेट रुचिजाल,
तिरोहित हुआ तरणि तत्काल ॥

चला है शीतल, स्निग्ध समीर,
गगन से लगा टपकने नीर ।
किसानों को होता प्रतिभात
बरसते हैं मोती अवदात ॥

रजत-सी यह उज्ज्वल जलधार
जगत के जीवन का आधार ।
गए धरती के कण-कण भींग,
वन्य पशु खड़े उठाए सींग ॥

विहंगम अपने पंख समेट
गए सुख से नीड़ों में लेट ।
विवर से बाहर भी कुछ झांक
वृष्टि का मूल्य रहे हैं आंक ॥

कभी गिरता जल मूसलधार
कभी उड़ती है मंद फुहार ।
पवन के साथ कभी हिमपात,
सिकुड़ कर खिल जाते जलजात ॥

हरित भू पर विद्रुम से अंग
दिखाती वीरबहूटी रंग ।
किया तरु-वल्लरियों ने स्नान
हुए हैं पुलकित उनके प्राण ॥

नहीं फूलों पत्तों पर खेह
रम्य आकर्षक लगती देह ।
हुए दर्दुर जल में वाचाल
मारते बारम्बार उछाल ॥

घनाघन का गर्जन गम्भीर
प्रकम्पित करता प्रान्तर तीर ।
पहन कर सतरंगा परिधान
तना सुरधनु का भव्य वितान ॥

हवा का बढ़ा वेग विपरीत
घटाएं बिखरी हो भयभीत ।
हुई बूदाबांदी भी बन्द
सूर्य की किरणें खिली अमन्द ॥

पूर्णतः नभ निरभ्र अवदात,
हो गया चालू यातायात ।
समय के साथ बढ़ा है घाम,
ढला दिन, हुआ तीसरा याम ॥

तपस्वी नन्दिषेण निष्काम
तपस्या करते हैं अविराम ।
आज है मासिक तप सम्पन्न
चले लेने 'प्रासुक' जल, अन्न ॥

खुला जो दीखा एक निकेत
प्रविष्ट हुए मुनि पात्र समेत ।
सदन कोशा का यह विख्यात
नहीं है लेकिन मुनि को ज्ञात ॥

त्याज्य है गणिका का प्रतिवेश
करे ही क्यों मुनि सद्म-प्रवेश ।
सजगता बहुत बरतते आर्य
किन्तु हो जाता कभी अकार्य ॥

अवांछित का मिल जाता मेल
यही है नियति-नटी का खेल ।
बहुत करने पर भी उद्योग
न टलता होनहार का योग ॥

मिलेगा बहन, यहां कुछ योग ?
किया मुनि ने पहला अनुयोग ।
मिलेगा, बहुत मिलेगा योग
अगर कर सकते अर्थ-प्रयोग ॥

नहीं इस झोली में यदि अर्थ
मुने, फिर कष्ट उठाना व्यर्थ ।
लुटाते जो अपना भण्डार
उन्हीं के लिए खुला यह द्वार ॥

सुकोशा का है यह आगार
जिसे है पैसे से ही प्यार ।
व्यक्ति का यहां न कोई मान
विभव ही है उसकी पहचान ॥

यहां तो मुद्रा का ही काम
अन्यथा सब निरर्थ व्यायाम ।
रचा कर भांति-भांति के स्वांग
उदर भरते हैं भिक्षा मांग ॥

क्षुद्र, दुर्भग, दरिद्र जो दीन
स्वर्ण-मणि-मुक्ता-रत्नविहीन ।
यहां वर्जित है उनकी छांव
चले तुम जाओ उलटे पांव ॥

मुझे क्या समझ लिया है रंक ?
तिरस्कृत करती यों निश्शंक ।
छिपा जो मुझमें अतुल निधान
अभी तक तू उससे अनजान ॥

तुझे तो प्रिय है मात्र पदार्थ
इष्ट मेरा लेकिन परमार्थ ।
चेतना में है जितनी शक्ति
न कोई कर सकता अभिव्यक्ति ॥

तपोबल से जो है उपलब्ध
न हो संभवतः वह विश्रब्ध ।
दिखा दूँ तो रह जाए स्तब्ध
बदल जाए तेरा प्रारब्ध ॥

मुने, मुख छोटा, ऊँची बात,
धूर्तता का लक्षण विज्ञात ।
उदर के लिए मांगते अन्न
कभी वे हो सकते सम्पन्न ?

न मिल पाते यौवन में भोग
सदा 'बकबक' करते वे लोग ।
दिखाते हैं ऊपर से योग
नहीं रह पाता मनोनियोग ॥

रहा है जो न भोग में व्यस्त
नहीं होगा वह मन संन्यस्त ।
अतः छोड़ो अब यह अपलाप
यहां से निकलो बस चुपचाप ॥

अगर है सिद्धि तुम्हारे पास
दिखा दो तो कर लूँ विश्वास ।
यहां चल सकती हेर न फेर
चलो, अब करो न किञ्चित् देर ॥

जगा तब अहंकार का भूत
कोप से हुआ हृदय अभिभूत ।
श्रमण की मर्यादा को भूल
बह गए चर्या के प्रतिकूल ॥

हुए क्षण भर निश्चल, निस्पंद
नेत्र-युग मूंद, श्वास कर बंद ।
धरा पर पटका दक्षिण पांव
तपोबल का फैंका है दांव ॥

उठा कनकाभ सघन घन एक
भयावह गर्जन का अतिरेक ।
गिरी हैं जल-बूंदें दो चार
स्वर्णमुद्राओं की बौछार ॥

पलक परिवर्तन की थी देर,
अजिर में लगा स्वर्ण का ढेर ।
रही चित्रित-सी कोशा हेर
तुष्ट है मानो आज कुबेर ॥

लगाई 'सोनैयों' की जोड़
सार्ध द्वादश वे हुए करोड़ ।
नहीं था कोशा को अनुमान
मिलेगा हाथोहाथ प्रमाण ॥

हर्म्य में चकाचौंध सर्वत्र
उठा लें दृष्टि अत्र या तत्र ।
पलक-संपुट में भर कर प्यार
मुग्ध हो अपलक रही निहार-

अनुत्तर आध्यात्मिक अनुभाव
हुआ विस्मृत सारा प्रतिभाव ।
दूर की बात-प्रबल प्रतिरोध
प्रेम में परिवर्तित है क्रोध ॥

आ गया भाषा में बदलाव
न कोई मन में रहा तनाव ।
स्वयं की शैली के अनुसार
किया प्रारंभ कटाक्ष-प्रहार ॥

गर्व की उष्मा से आक्रान्त
दिखा कर चमत्कार निर्भ्रान्त ।
हुए मुनि चलने को तैयार
बन्द हैं लेकिन सारे द्वार ॥

जलाती आशाओं के दीप
खड़ी है गणिका द्वार समीप ।
विनयपूर्वक करती प्रणिपात
प्रणय उपजाने में निष्णात ॥

कहा धीमे स्वर से हे नाथ !
नहीं कर सकते मुझे अनाथ ।
मिलेंगे सीकर-सिंधु समान
फलेंगे कोशा के अरमान ॥

छोड़ मेरी नैया मझधार
किधर अब करने लगे विहार ?
उगा है कल्पवृक्ष स्वयमेव
नहीं जाने दूंगी मैं देव !

असीमित करुणा के भण्डार !
प्रार्थना है यह बारम्बार ।
दिखा कर अनुकम्पा का भाव
मान लो मेरा यह प्रस्ताव—

अतुल यह रूप-राशि तारुण्य
प्रकट हैं प्रचित पुरातन पुण्य ।
अकल्पित मिला सुखद संयोग
करें इस अवसर का उपयोग ॥

जलाशय आप बनो मैं मीन
रहूंगी चरण-सलिल में लीन ।
करो दीपक बन आप प्रकाश
रहूंगी मैं पतंग-सी पास ॥

विराजो राका के प्रिय चंद्र !
चकोरी प्रस्तुत सदा अतंद्र ।
प्रफुल्लित पुष्प बनो हे आर्य !
मिले बस मुझे मधुप का कार्य ॥

समय से पूर्व बने अनगार
जरूरी इस पर पुनर्विचार ।
फैंक दो मुनि का वेश उतार
करो इस वामा को स्वीकार ॥

हुई है जो भी मुझसे भूल
वचन जो निकल गए प्रतिकूल ।
मुझे है उसका पश्चात्ताप
क्षमा कर दें वह सारा पाप ॥

क्षमा के पात्र सदैव अबोध
न लेते महापुरुष प्रतिशोध
सताता कायर नर को क्रोध
सुजन से मिलता समता-बोध ॥

पसीजो, पिघलो अत्रभवान !
मांगती मात्र एक वरदान ।
मुझे दो प्रणय-प्रीति का दान
करूं मैं स्नेह-सुधा का पान ॥

किया यों कह कर चरण-स्पर्श
हटे मुनि पीछे बिना विमर्श—
नहीं नारी का स्पर्श विधेय
संयमी उसे समझते हेय ॥

शीघ्र निर्गमन मुझे है इष्ट
भूल से मैं हो गया प्रविष्ट ।
सुरक्षित यहां नहीं आचार
खोल अविलम्ब अतः तू द्वार ॥

अगर था जाने से ही काम
पधारे क्यों फिर मेरे धाम ?
लुभाया क्यों यह मनोमराल ?
न मुक्ता देते जो व्रतपाल !

बुढ़ापे में लेना संन्यास
अभी तो यौवन का मधुमास ।
भोग-सामग्री सुलभ अपार
सुसज्जित शाला यह तैयार ॥

अधिक अब सह्य न कालक्षेप
प्रेम से करो दृष्टि-निक्षेप ।
फैंक दो मुनि का वेश उतार
करो इस वामा को स्वीकार ॥

मुझे यदि समझ रहे हो भ्रष्ट
करो सुनने का थोड़ा कष्ट—
गरीबी से थी मैं आक्रान्त
क्षुधा की ज्वाला हा! दुर्दान्त ॥

पिताश्री चले गए परलोक
निदारुण मातृ-विरह का शोक ।
लिया सब स्वजनों ने मुख मोड़
दिया चिर स्नेह-सूत्र को तोड़ ॥

जुटा पाती न अन्न पर्याप्त
विकृत जूटा, बासी जो प्राप्त-
देख हो जाता मन अवसन्न
फैंक, रह जाती कभी निरन्न ॥

न देते दर्शन पोषक तत्त्व
सूख कर गात्र हुआ निस्सत्त्व ।
न थी फूटी कौड़ी भी पास
काटती रो-रो रात उदास ॥

कष्ट का कोई ओर न छोर
जाल-सा फैला चारों ओर ।
भाग्य-लिपि पर करते आक्रोश
हुआ निःशेष धैर्य का कोश ॥

विधाता ने भी किया न न्याय
किसे दूँ उपालम्भ मैं हाय !
न दीखा जब कुछ और उपाय
चलाना पड़ा घृणित व्यवसाय ॥

कहो इसमें मेरा क्या दोष ?
किधर से भी न मिला जब पोष ।
परिस्थितियों की खा कर मार
किया स्वीकार देह-व्यापार ॥

मत्त कर देता ज्यों अतिभाव
बढ़ाता त्यों अपराध अभाव ।
विवशता में है सब कुछ श्रेय
मुझे मत समझो इतनी हेय ॥

मुझे इन चरणों की सौगंध
न आयेगी व्यवसायिक गंध ।
आज से यह समाप्त अध्याय
आप जैसा मिल गया सहाय ॥

हुआ है भोजन भी तैयार
गुलाबी स्वप्न करो साकार ।
चली यों कह कर ऐसी चाल
धरा चरणों में अपना भाल ॥

लगे कुछ विचलित अन्तर्भाव
भँवर में डगमग करती नाव ।
ताप से पिघल गया नवनीत
पुण्य पर हुई पाप की जीत ॥

प्रकम्पित अन्तस्तल के तार
गूँजने लगी मधुर झंकार ।
खड़े मुनि किंकर्तव्यविमूढ़
लगे सुलझाने प्रश्न निगूढ़ ॥

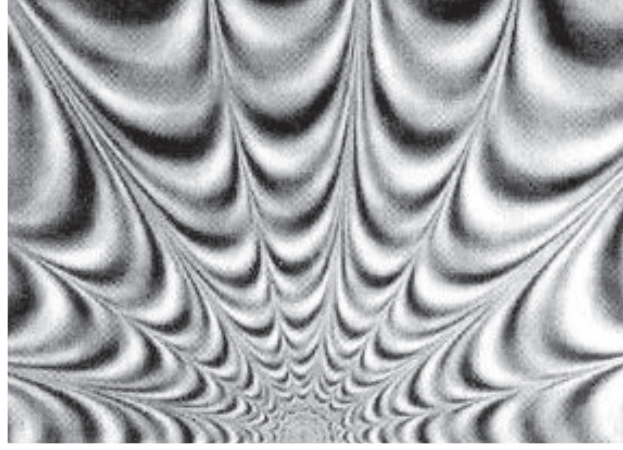
लिया मुनि के भावों को जान
ज्ञात था कुछ आकृति-विज्ञान
प्रेम से पकड़े दोनों हाथ
भवन में उन्हें ले गई साथ ॥

बिछा था मखमल का कालीन
सुवासित, सुन्दर, सुखद नवीन।
किया अभ्यागत को आसीन
हो गई सेवा में तल्लीन ॥

उतारा मलिन साधु का वेश
स्नान कर किये सुगन्धित केश।
रेशमी पहन लिया परिधान
चले फिर कामदेव के बाण ॥

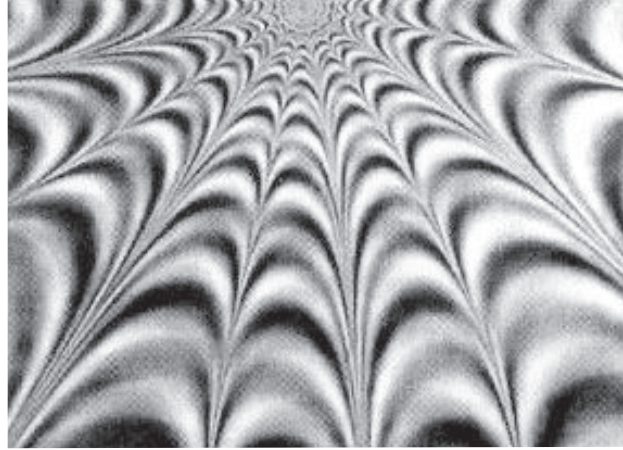
गई मुनि की मर्यादा टूट
न कुल का गौरव रहा अखूट।
पिता की रही न शिक्षा याद
दिवस को भी इसका अवसाद ॥

हुई संध्या की अलकें आर्द्र
विहग भी लौटे हो करुणार्द्र।
मीचने लगा नेत्र मार्तण्ड
नियति का नाटक देख प्रचण्ड ॥



७

अनुस्मरण



(७)

अवगुण्ठन खोले खड़ी निशा
निस्तब्ध पड़ी प्रत्येक दिशा ।
तारों की भी मुस्कान बन्द
राकेश हुए छविहीन मन्द ॥

आंसू टपकाता नभ नीला
अवनी का हरिताञ्चल गीला ।
सन्-सन् करता बहता समीर
जगती ने ओढ़ा असित चीर ॥

निर्मल जल पर आवरण डाल
हो गया प्रसृत शैवाल-जाल ।
ज्यों दर्शन-ज्ञान-चेतना पर
छा जाते कर्म उदय आ कर ॥

तम की काया विस्तीर्ण हुई
रेखा प्रकाश की जीर्ण हुई
जुगनूं झिलमिलते रह-रह कर
करते कुछ छिन्न तिमिर-चादर ॥

निर्भीक निशाचर क्रीडारत-
मिल अट्टहास करते उद्धत ।
देवत्व न रहता जब सुस्थिर
असुरत्व उठा लेता तब सिर ॥

चेतन-जग निद्रा-लीन हुआ
अवचेतन चल, स्वाधीन हुआ ।
सपनों की संसृति में विचरण
वस्तुस्थिति का कुछ भी न स्मरण ॥

विक्षोभ, ग्लानि, संताप लिए
क्षति का अनुताप अमाप लिए ।
अस्थिर-सा नन्दिषेण सोया—
क्या पाया मैंने क्या खोया ?

है कोमल शय्या फूलों की
पर चुभती शूलें भूलों की ।
सपने में कोई कहता है—
जो होना, होकर रहता है ॥

तू वत्स, पूर्णतः भ्रष्ट हुआ
तेरा भविष्य अस्पष्ट हुआ ।
भटका भोगों के जंगल में
फँस गया वासना-दलदल में ॥

यह दीप-वर्ति निस्नेह हुई
निर्गन्ध सुमन की देह हुई ।
उत्पल में रहा पराग नहीं
पिक-स्वर में पंचम राग नहीं ॥

यह नौका छिद्रों से छलनी
संभव न कभी तट तक चलनी ।
पतवार हाथ से गई फिसल
आशा की किरण हुई ओझल ॥

फिर भी यदि ढूंढे द्वीप कहीं
मिल सकता तुझे समीप यहीं ।
कर अपना अन्तर-अवलोकन
चाहे तो कर दूँ पथ-दर्शन ॥

सुन कर अंतस्तल आहत है
हो जागरूक चिंतन-रत है—
ये वचन यथार्थ सुसंगत हैं,
क्षत-विक्षत हुए महाव्रत हैं ॥

स्वेच्छा से जिस पथ पर निकला
कुत्सित वह पृष्ठ हुआ उजला ॥
हो व्यंग्य-बाण से दर्पोद्धत
खो दिया रत्न मैंने अधिगत ॥

था त्यागी कान्ता-काञ्चन का
सम्मान-पात्र मैं जन-जन का
श्रद्धा-विभोर झुक-झुक सहर्ष
भूपति भी करते चरण स्पर्श ॥

सुनते सब मंत्र-मुग्ध प्रवचन
आ जाते उतर इन्द्र, सुरगण ।
कितना लोकप्रिय, दर्शनीय
आभामण्डल था अद्वितीय ॥

कितना निश्चिन्त, निराकुल था
गर्वित मुझ पर मेरा कुल था ।
था अनासक्त, निस्पृह योगी
सुन कर प्रतीति किसको होगी ॥

निकला पिछले सम्बन्ध तोड़,
फिर लिया नया सम्बन्ध जोड़।
मैं निकल कूप से खाई में-
गिर गया और गहराई में ॥

इस स्नेह-पाश को करूं शिथिल
आए समीप जिससे मंजिल।
यह प्रकट हितैषी कोई है
दी जगा चेतना सोई है ॥

कम्पित, विगलित, आतुर स्वर में
वह 'हां' कह पाया उत्तर में।
आगे भाषा अवरुद्ध हुई
पीड़ा-सी एक प्रबुद्ध हुई ॥

'कर कठिन प्रतिज्ञा तू कोई
जागेगी पुनः शक्ति सोई।
जीवन-धारा को मोड़ वही-
देगी श्रेयस् से जोड़ वही ॥'

यों कह कर अन्तर्धान हुआ
रजनी का भी अवसान हुआ।
प्राची में आभा नई खिली
वसुधा को अनुपम ज्योति मिली ॥

मंगल प्रभात का शंखनाद—
जागो, जागो, त्यागो प्रमाद।
जो सोता है, वह खोता है
जाग्रत जन मोती बोता है ॥

मुख-कंज पूर्व की ओर किए
आस्था की एक हिलोर लिए
कर-पल्लव अपने जोड़ खड़ा
प्रातः करने संकल्प कड़ा ॥

बन कर निष्कृति का आकांक्षी
ले उदित अरुणिमा की साक्षी
सामर्थ्य समग्र बटोर लिया
प्रण नन्दिषेण ने घोर किया—

प्रेरणा दूसरों को दूंगा
अध्यात्म तत्त्व बतलाऊंगा ।
दस व्यक्ति नित्य समझाऊंगा
प्रभु-चरणों में पहुँचाऊंगा ॥

सुधि बनी रहेगी संयम की
उस परित्यक्त जीवन-क्रम की
हर स्थिति में प्रण यह अटल रहे
निर्व्याज मनोबल प्रबल रहे ॥

आए वह भी स्वर्णिम अवसर
मैं स्वयं पुनः उत्थित हो कर
निर्ग्रन्थ-सरणि का वरण करूं
हो अनासक्त निष्क्रमण करूं ।

संकल्प अस्खलित पलता है
क्रम पूर्ण व्यवस्थित चलता है ।
उलझा है लेकिन भोगों में
कुछ खुला रहस्य यह लोगों में ॥

फिर भी कोशा का आकर्षण
होता न अतः अन्तर्दर्शन ।
उन्मुक्त वासना का विलास
अव्यक्त-व्यक्त परिहास-हास ॥

दिन लगते जब पल के समान
पल का रखता तब कौन ध्यान ।
हो वर्तमान में सुख प्रतीत
विस्मृत हो जाता तब अतीत ॥

कोशा ने एक पुत्र पाया
शाला में नव उत्सव छाया ।
फैला ममता का जटिल जाल
भावी को सकता कौन टाल ?

पर प्रण में नहीं शिथिलता है
यह पर-उपदेश कुशलता है ।
यों बीत गए हैं पांच वर्ष
देते औरों को परामर्श ॥

आई ऊषा उन्मेष लिए
उद्बोधन का संदेश लिए ।
प्रभु-चरणों तक नौ व्यक्ति गए
हो श्रद्धा-सिक्त सभक्ति गए ॥

दसवां था किन्तु बहुत अक्खड़
करते ही चर्चा गया बिगड़ ।
क्रोधाकुल आँखें लाल हुई
आकृति विरूप, विकराल हुई ॥

बोला वह करता तिरस्कार—
‘धिक्कार तुझे है बार-बार ।
बैठा वेश्या का बना दास
ऊपर से यह वाणी-विलास ॥

सोने का ही न परीक्षक हूँ
नर का भी कुशल समीक्षक हूँ ।
खल, दुष्ट, नराधम, व्यभिचारी
तू है कुत्सा का अधिकारी ॥

ले अपनी ओर निहार जरा
रग-रग में विषय-विकार भरा ।
कथनी-करनी में है विरोध
किस मुख से देता मुझे बोध ?

क्या अंधा पथ दिखला सकता ?
औरों को पंगु चला सकता ?
झूठा पाखण्ड रचाता है,
क्यों जनता को भरमाता है ?

प्रभु वर्द्धमान से धरा धन्य
उनका आध्यात्मिक बल अनन्य ।
लेकिन न अभी मैं जाऊंगा
यह सुयश न तुझे दिलाऊंगा ॥

‘में पामर, कायर, क्लीव-सही
पथभ्रष्ट, विलासी, जीव-सही ।
पर तत्त्व बताता हूँ यथार्थ
जिसमें कोई भी नहीं स्वार्थ ॥

‘तू भेज रहा है जहां मुझे
क्या स्थान न मिलता वहां तुझे ?
चल सकता तेरा नहीं दम्भ
मेरे सम्मुख यह विप्रलम्भ ॥’

‘उपचार चिकित्सक का उदार
फिर भी न स्वास्थ्य में हो सुधार
इसका कारण है स्वयं ग्लान
उसकी संजीवन शक्ति म्लान ॥

प्रभु का उपदेश निरापद है
जीवन पवित्र श्रद्धास्पद है ।
अनुसरण पात्र ही कर सकता
कैसे कुपात्र तब तर सकता ?

बरसे कितना ही धाराधर
भीगे क्या ‘मुद्गशैल’ पत्थर ।
अंकुर न फूटता बंजर में
उगती हरियाली उर्वर में ॥

हो सकते मुक्त नहीं ‘अभव्य’
उनसे भी तरते जीव भव्य ।
स्थितिशील सदा ‘धर्मास्तिकाय’
गति में फिर भी बनती सहाय ॥

यदि पंकलिप्त हीरा, सोना
क्या बुद्धिगम्य उसको खोना ?
तलवार अगर हो मूल्यवान
रखती फिर कितना अर्थ म्यान ?

हो ग्रन्थ भले ही जीर्ण-शीर्ण
यदि ज्ञान-राशि करता विकीर्ण ।
तो ज्ञान विज्ञ के लिए ग्राह्य
होता न अपेक्षित रूप बाह्य ॥

मत मेरी ओर अधिक झांको
जो सारभूत, उसको आंको ।
चाहे कोई भी कहता है
पर सत्य, सत्य ही रहता है ।’

‘मत कर बढ़-चढ़कर विप्रलाप
छिपता न छिपाए कभी पाप ।
क्यों अपनी शक्ति लगाता है ?
मेरा भी समय गँवाता है ॥

कर स्मरण वंश की परम्परा
इतिहास त्याग, बलिदान भरा ।
फेरी तूने कालिख उस पर
सीमा से नीचे गया उतर ॥

व्यापक है जिसका यश प्रकाम
क्या याद पिता का तुझे नाम ?
तू उसे न और उजाल सका
अङ्गीकृत नियम न पाल सका ॥

तू दीपशिखा का कज्जल है
रत्नाकर का बड़वानल है ।
तू गुलाब में कंटक समान
शशि में कलंक का तू प्रमाण ॥

बन पहले तू ही गुण-सागर
फिर भरना औरों की गागर ।
उपदेश छांटना छोड़ अरे
तू अपने को ही मोड़ अरे ॥

दीपक में होती ज्योति प्रकट
आते हैं तभी पतंग निकट ।
जिस घनमाला में सलिल भरा
आप्लावित करती वही धरा ॥'

इतने में कोशा भी आई
उनकी बातों से झुंझलाई—
'यह कैसा मोल लिया झंझट
आओ खाना खाओ झटपट ॥

रवि खमध्य से नीचे आया
प्राची की ओर ढली छाया ।
दातुन जो प्रातः मँगवाई
वह पड़ी-पड़ी कुछ मुरझाई ॥

प्रतिदिन चलती खींचातानी
पड़ती कितनी मुंह की खानी ।
यह धंधा बिल्कुल बन्द करो
अपने घर में आनन्द करो ॥

मैं आई कितनी बार यहां
पर था विवाद का पार कहां ?
कुछ कहे बिना हर बार गई
अब आती-जाती हार गई ॥

जो बुद्धि-विकल, दुर्मुख, गँवार,
समझेगा कैसे धर्म-सार ?
अपमान, अनादर, तिरस्कार
मिलता बदले में पुरस्कार ॥'

'पूरा न हुआ मेरा प्रण है
लेना मुख में न अतः कण है ।
मैं दसवें को समझा न सका
श्रम किया सफलता पा न सका ॥

जब तक होगा यह काम नहीं
लूंगा भोजन का नाम नहीं ।
करना पड़ जाए चाहे व्रत
संकल्प निभाऊंगा अक्षत ॥

प्रण प्राणों से भी प्यारा है
प्रण का ही मुझे सहारा है ।
जब दसवें को समझा दूंगा
भोजन तब ही कर पाऊंगा ॥'

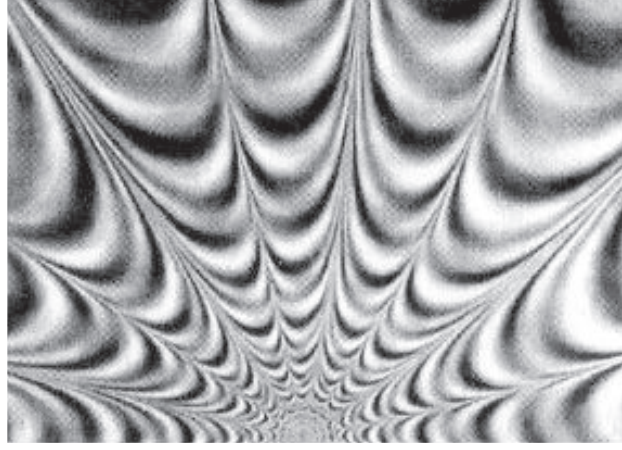
'यह निभने वाली नहीं टेक
पहले ही रखना था विवेक ।
क्यों सरपच्ची कर-कर थकते
तुम भी तो दसवें बन सकते ॥'

लग गया तीर-सा मानस में
विद्युत-सी दौड़ी नस-नस में ।
उत्प्रेरक अन्तर्नाद उठा
होकर प्रबुद्ध साह्लाद उठा ॥

स्वर्णिम अतीत का अनुस्मरण
प्रारम्भ हो गया प्रतिक्रमण—
मैं दीर्घतपस्वी महाश्रमण,
विषयों में करता आज भ्रमण!

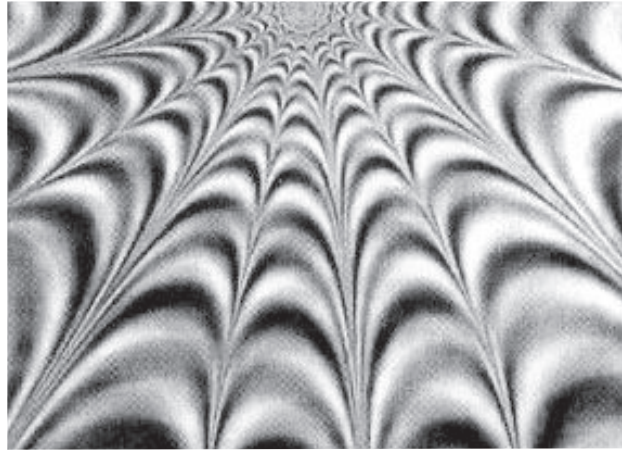
मैं ही दसवां हो जाऊंगा
यह अवसर नहीं गँवाऊंगा।
'निज पर शासन फिर अनुशासन'
कितना सार्थक, शाश्वत दर्शन ॥

लो सारे बन्धन तोड़ चला
अविनाशी से मन जोड़ चला।
निष्प्रभ नयनों से नीर बहा—
कोशा धड़ाम से गिरी हहा!



८

अभ्युत्थान



(८)

निस्तेज हुई दिनकर की स्वर्णिम थाली,
पर झलक रही पश्चिम में अब भी लाली ।
सत्पुरुष छोड़ जाते पदचिह्न भुवन में
त्यो प्रसृत कान्ति कर जाता सूर्य गगन में ।

सिन्दूरी वदन प्रतीची का जब देखा,
प्राची में खचित असित ईर्ष्या की रेखा ।
करके क्रीड़ा सर, सरिता, नद, निर्झर में
जा रही रश्मियां पुनः कान्त के घर में ॥

चकवी से मुखड़ा चक्रवाक ने मोड़ा
बिछुड़ा निशि भर के लिए निमिष में जोड़ा ।
तरु-शाखा पर कर रही विलाप अकेली
यह रही प्रकृति की सदा अबूझ पहेली ॥

दुख-दग्ध व्यक्ति को यदि मिल जाए श्रोता
दुख एक बार तो छूमंतर-सा होता ।
अरविन्दों के उन्मद लोचन अलसाए
रवि से वियुक्त होते ही वे सकुचाए ॥

वत्सों से मिलनातुर गौएं रम्भाती
जंगल से लौट रही वे धूल उड़ाती ।
मुड़ नीड-निलय की ओर गया खगकुल है
अपने बच्चों से मिलने को आकुल है ॥

कोशा-सुत ने भी घर में पांव टिकाया
स्थिति देख विषम-सी सत्राटे में आया ।
कोई न दृष्टिगत होता, मौन अजिर है
आशंकाओं से गया बाल-मन घिर है ॥

क्यों अभी पिताश्री लेते संध्या ढलते ?
लिपटे चादर में करवट भी न बदलते ?
क्यों आज किसी ने दीपक भी न जलाया ?
मां ने भी 'आओ बेटा' कह न बुलाया ?

कर पर कपोल धर बैठी भग्नहृदय-सी
किस गुत्थी को सुलझाने में तन्मय-सी ?
निश्वास उष्ण मुख से द्रुत छोड़ रही है
शरविद्ध कुरंगी ज्यों तन तोड़ रही है ॥

तरु के पत्ते-सा कांप रहा तन सारा,
मैंने मां का यह रूप न कभी निहारा ।
आ गया अचानक ऐसा क्या संकट है ?
इस तरह बना जो वातावरण विकट है ॥

गर्दन भी मां तो ऊपर नहीं उठाती
इस निस्पृहता का कुछ तो हेतु बताती ।
मां-मां-मां-मां-मां-मां पुकारता हारा
पर पता न केन्द्रित ध्यान कहां है सारा ?

यह क्या ? माता तो फफक-फफक कर रोती
आँखों से अविरल ढलक रहे हैं मोती ।
कितनी रक्तिम हो गई सूज कर पलकें ?
हैं अस्त-व्यस्त नागिन-सी काली अलकें ॥

मां मुझे बता किसने दुश्चक्र चलाया ?
छोड़ूंगा उसे न जिसने तुझे रुलाया ।
हो ज्ञात मुझे इस व्यथा-कथा का कारण
कर दूंगा फिर मैं अपने आप निवारण ॥

मुश्किल से कोशा बोली क्या बतलाऊं ?
फट जाए धरा, समा उसमें मैं जाऊं ।
सिर पर विपदा का आसमान-सा टूटा
बस बात-बात में रौद्र अनलगिरि फूटा ॥

उकताहट में मुझसे भी भूल हुई है
मेरी जिह्वा मेरे प्रतिकूल हुई है ।
है वृश्चिक-दंश समान भयंकर पीड़ा
करती है दुःसह आग नसों में क्रीड़ा ॥

कल प्रातः तेरे पिता जा रहे घर से
आहत होकर मेरे अविचारित स्वर से ।
उत्पात मचा यह रसना की स्खलना से
मैं छली गई हा ! अपनी ही छलना से ॥

पिंजरे से पंछी एक बार उड़ जाता
फिर लाख प्रयत्नों से न पकड़ में आता ।
जो तीर धनुष से छूटा, छूट गया है
सम्बन्ध-सूत्र उसका बस टूट गया है ॥

प्रत्येक मनुज स्वाधीन बीज बोने में
पर पराधीन होता हँसने, रोने में ।
पशुवर्ग दुखी इसलिए कि बोल न पाता
पर मानव बोल-बोल कर कष्ट उठाता ॥

जिसकी न मधुर, शालीन, परिष्कृत भाषा
सुख की आशा है—उसके लिए दुराशा ।
होठों पर अंकुश रखता, वही स्ववश है,
दुर्वाक्, मुखर का जीवन ही नीरस है ॥

जिसका न विवेक निरंतर जागृत रहता
अगणित कष्टों को वह जीवन में सहता ।
पांवों पर चला कुल्हाड़ी मैं पछताती
हो गया अकृत, निष्फल न उसे कर पाती ॥

‘क्या समाधान इसका यों कायर होना ?
बिलकुल न उचित इस तरह बिलखना, रोना ।
हम दोनों मिल कर सविनय उन्हें मनाएं
स्वीकार भूल करने में क्यों सकुचाएं ?

गलती तो बड़े बड़ों से भी हो जाती
पर क्षमायाचना वह कल्मष धो जाती ।
बिगड़ी सुधारनी है तो झुकना होगा
ऋजुता से अहं-विसर्जन करना होगा ॥

परिणाम एक जैसे रहते न सुचिर हैं
ऊँचे उठते या जाते नीचे गिर हैं ।
रह सकते उनके बिना नहीं यदि हम हैं
तो हम भी उनके लिए कौन-से कम हैं ?’

यों कह कर पकड़ा मां का भीगा अंचल
माता से आगे दौड़ा बालक निश्छल ।
झकझोरा नन्दिषेण को, खींची चादर
सहलाने लगा पिता को बैठ उदर पर ॥

इतने में खड़ी सामने कोशा दीखी
पाण्डुर आकृति कुम्हलाई लता सरीखी ।
अनुताप-भार से अवनत पलक-युगल है
अवरुद्ध कण्ठ से बोल न रहा निकल है ॥

'हे नाथ, क्षमा कर दो' धीमे-से बोली—
कर रही याचना फैला कर मैं झोली ।
वास्तविक प्रेम भाषा में नहीं उलझता
भावक भावों को ही सर्वस्व समझता ॥

मेरे भीतर की छवि को नहीं निहारा
जिसमें उच्छलित अजस्र प्रेम की धारा ।
जल सकती जिसकी ज्योति हृदय-मंदिर में
तुम ढूँढ़ रहे शब्दों के शून्य अजिर में ॥

तुमने तो मेरा बाह्य रूप ही जाना
पर अन्तर से जाता अन्तर पहचाना ।
जड़ से चेतन को कभी न जाता तोला
अनुभूतिगम्य को वर्णों ने कब खोला ?

प्रत्यक्ष दृष्ट से ही होती समरसता,
दिखला सकती न हृदय, बस यही विवशता ।
अपने अतीत की कर लो स्वयं समीक्षा
क्या रही प्रीति की अब भी शेष परीक्षा ?

इन्द्रासन भी हो सकता सहज सुलभ है
निस्वार्थ यथार्थ प्रेम परन्तु दुर्लभ है ।
शिव, सुन्दर, सत्य न कुछ भी इससे बढ़ कर
इसमें ही प्रतिबिम्बित होता परमेश्वर ॥

यह एक मूल आकांक्षा है मानव की
अनिवार्य अपेक्षा है यह भौतिक भव की ।
यह प्रेम प्राणधारी की तीव्र क्षुधा है
म्रियमाण व्यक्ति के लिए अमूल्य सुधा है ॥

पर्याप्त प्रेम जिसको न प्राप्त हो पाता
वह हीनभावना से पीड़ित हो जाता ।
व्यक्तित्व-विकास न होता उसका पूरा
ज्यों नमक बिना भोजन का स्वाद अधूरा ॥

दीखे चाहे कोई कितना ही रूखा
है अन्तःकरण परन्तु प्रेम का भूखा ।
जिस घर में प्रतिपल प्रेम परस्पर पलता
उस पर चिर आधि-व्याधि का दांव न चलता ॥

इस निधि को टुकरा कर वन में तप तपना
नवनीत नीर से पाने को है खपना ।
मेरे से तो अपनत्व भले मत जोड़ो
पर पुत्र-प्रेम का धागा तो मत तोड़ो ॥’

‘जिस प्रेमभाव का करती विशद विवेचन
अब ऊब चुका है पूर्णतया उससे मन ।
यह पादप सींचा स्वार्थ-सलिल से जाता
प्रतिकूल हवा की लहर नहीं सह पाता ॥

यह फूल घृणा के शूलों में ही पलता
मुरझाना ही जिसका परिणाम निकलता ।
प्रारंभिक क्षण में जो सौरभ मनमोहन
होने लगता वह जीर्ण-शीर्ण अगले क्षण ॥

पूरा सम्बन्ध न आपस में जुड़ पाता
कर्पूर-गन्ध ज्यों पहले ही उड़ जाता ।
आतंक, बुढ़ापा, मृत्यु इसे भी ग्रसते
फिर भी विमूढ़ जन चक्रव्यूह में फँसते ॥

बहुमूल्य सुझाव दिया, उसका स्वागत है
यह बात वस्तुतः बहुत युक्तिसंगत है ।
संस्कार बीच में रहे प्रसुप्त पुरातन
तेरे निमित्त से वे हो गए सचेतन ॥

इसमें तेरा किञ्चित् भी दोष नहीं है
मेरे भी मन में कोई रोष नहीं है ।
शब्दों का ऐसा पड़ा प्रभाव अनूठा
खुल गई आँख, मत मुझे समझना रूठा ॥

झोंका लगते ही गया आवरण हट है
ओझल सूरज की फिर से किरण प्रकट है ।
संकेत भेजती है जो अंतःप्रज्ञा
करते न प्राज्ञ नर उसकी कभी अवज्ञा ॥

जो बंधन टूटे, उन्हें टूट जाने दो,
कञ्चुक से अहि को शीघ्र छूट जाने दो ।
पनपे विभाव जो, उन्हें क्षीण होने दो
अपने स्वभाव में मुझे लीन होने दो ॥

यह बिंदु फैल कर क्षीर सिंधु बन जाए
'वसुधैव कुटुम्बम्' सूक्त सत्यता पाए ।
यह भावसरित बन जाए गंगासागर
यह दीपशिखा निखरे बन दिव्य दिवाकर ॥

दृढ़चेता अपने प्रण से कभी न टलते
हैं वचन लीक लोहे की, नहीं बदलते ।
लघु से विराट की ओर ध्येय है मेरा
अणु से लेकर ब्रह्माण्ड प्रेय है मेरा ॥

पुलकित आनन्दित रोम-रोम है मेरा
टूटा मूर्च्छा का अनायास ही घेरा ।
अब तो यह निशाकाल भी लगता भारी
कब हो प्रभात, कब बनूं मुक्तिपथचारी ॥

फिर गया सुनहली आशाओं पर पानी
आँखें विद्रुत, वंध्या कोशा की वाणी ।
उठ कर झट पुत्र कक्ष से बाहर भागा
कर-पल्लव में ले आया कच्चा धागा ॥

आवर्त पिता के तन पर सात लगाए
तुतलाती मीठी बोली मोह जगाए ।
करने माता को अब आश्वस्त चला है
ऋजुता भी समाधान की एक कला है ॥

पड़ती न झूठ की जब तक उस पर छाया
सीखे जब तक न प्रपंच, कुटिलता माया ।
तब तक बालक लगता है सबको प्यारा
कवियों ने उसमें प्रभु का चित्र उभारा ॥

मैं बांध पिताजी को आया बंधन में
जा नहीं सकेंगे अब कदापि वे वन में ।
शय्या पर करवट भी न बदल पाते हैं
देखूं कैसे अब छोड़ हमें जाते हैं ॥

तुम तो मां, किसी तरह भी मना न पाई
यह बाल-बुद्धि ही काम समय पर आई।
लेटे-लेटे ही देखो वे मुस्काते
रह गई धरी बातें, न कहीं अब जाते ॥

सुन-सुन बेटे की बातें भोली-भाली,
छलछला गई माता की लोचन-प्याली।
अन्तस् में नन्दिषेण के ममता उमड़ी
जर्जरितप्राय तरु ने जड़ फिर से पकड़ी ॥

फड़फड़ा उठी चिंतन की सुस्थिर पाँखें
रह-रह कर टिकती हैं आत्मज पर आँखें—
कितना कोमल, कितनी अकलुष आकृति है?
साक्षात् अवतरित मेरी ही प्रतिकृति है ॥

इस बच्चे का मुझसे लगाव अतिशय है
बिलखेगा यह, चिन्ता का यही विषय है।
शिशुवय में संरक्षण से वंचित हो कर
जी पाएगी कैसे यह मूर्ति मनोहर?

इसकी बोली ऋजुता, मृदुता का निर्झर
त्रिभुवन की विभुता भी इस पर न्यौछावर।
कैसे-कैसे करतब सूझते विलक्षण
निश्चिन्त हुआ कर धागे से आवेष्टन ॥

यह लौह-शृंखला इसको मान रहा है
हिल-डुल न सकूंगा अब मैं—जान रहा है।
मैं अभी तोड़ दूँ इसे एक झटके से
ये प्राण रहेंगे पर इसमें अटके-से ॥

क्या नहीं साधना होगी उत्तरवय में ?
परिवर्तन आवश्यक है इस निर्णय में ।
कच्चे धागे के सात लगे आवर्तन
चाहिए मुझे इनका करना मूल्यांकन ॥

लोहे की बेड़ी से मनुष्य घबराता
पर स्वर्ण-सूत्र से वह सहर्ष बँध जाता ।
अत्यन्त कठिन इस कुलिशपाश का छेदन
दुस्त्यज, दुस्तर है स्नेहसिक्त संवेदन ॥

जब तक कर्मों की रहती बनी प्रबलता
तब तक न त्याग के सांचे में मन ढलता ।
जाती है राग-द्वेष की गांठें घुलती
उपयुक्त समय से पूर्व नहीं वे खुलती ॥

बाधाओं पर बाधाएं आती रहती
जो बारम्बार शिथिलता लाती रहती ।
करके भी अभ्युत्थान चरण मुड़ जाते
कंटकाकीर्ण पगडंडी से जुड़ जाते ॥

होती जाती फिर दूर-दूरतर मंजिल,
रहने लगता अन्तस् अमर्ष से आविल ।
प्रेरणा स्वतः या परतः जिस दिन मिलती
उस दिन ही अवरोधों की चूल्हें हिलती ॥

हो गए पूर्णतः नन्दिषेण फिर बन्दी
भावों में अप्रत्याशित आई मन्दी ।
कोशा के घर यों बारह वर्ष बिताए
करके निश्चय भी नहीं निकलने पाए ॥

हर कृष्ण पक्ष के बाद पक्ष उजला है
पश्चात शिशिर के सदा बसन्त फला है ।
अंधेरी रात अन्ततः पूरी होती
प्रातः का चिंतन उपजाता है मोती ॥

अब नन्दिषेण की फिर निद्रा उचटी है
कुछ छँटी अघ-घटा, आई पुण्य घटी है ।
उज्ज्वल अतीत का आया पुनःस्मरण है
एकाग्रचित्त करने में प्रतिक्रमण है—

‘मैं लीन स्वयं में रहता था निशिवासर
पाता आनन्द सुपर्वों से भी बढ़ कर ।
था तपस्तृप्त, अनगार, अनीह, अनातुर
हा, हुई शील-चादर वह कितनी कर्बुर ?

व्रत-पारणार्थ निकला था लाने भिक्षा
हा, बात-बात में खण्डित हुई तितिक्षा ।
फिसला तो ऐसा फिसला सँभल न पाया
मोहोदय को मैं करने विफल न पाया ॥

हो अभिनिष्क्रमण यहां से अब भी मेरा
जब अन्तःप्रज्ञा जागे तभी सवेरा ।
प्रभु-चरणों में जा, आलोचना करूं मैं
ले प्रायश्चित्त आत्मरण में उतरूं मैं ।’

रवि-साक्षी से चिंतन को सार्थ किया है
यों ‘कदंबकोरक’ न्याय कृतार्थ किया है ।
कर छिन्न-भिन्न आवरण ध्यान के द्वारा
स्वाध्याय, तपस्या से तोड़ी भव-कारा ॥

निर्धूत राग, निश्छल, निर्द्वन्द्व हृदय है,
अविकल्प अहिंसानिष्ठित अतः अभय है।
निःसंग, निरामय, निरभिलाष जीवन है,
निर्लिप्त, प्रसन्न चेतना का कण-कण है॥

घट में उत्कृष्ट प्रकाश उतर आया है,
संयम-भावित मन, वचन और काया है।
आत्मीय-अपर की मिटी विभाजन-रेखा,
अपना स्वरूप ही प्राणिमात्र में देखा॥

११-११-२००४ (गुरुवार)

हेतु यह, जो धन्य होते
पद-कमल में शीष धर।
पूज्यप्रवरों की चढ़ा कर
चरणरज जन शीष पर ॥

विनत बद्धांजलि नृपति ने
निकट आ वन्दन किया।
स्तुतिपरक शब्दावली सह
भाव अभिनन्दन किया ॥

पुण्य त्रैकालिक प्रकट
आराध्य के दर्शन हुए।
शिथिल, भंगुर पूर्वसंचित
निविड़तम बन्धन हुए ॥

उच्च अभिलाषा सँजोए
प्रणत राजकुमार है।
ओष्ठ-सम्पुट में नियंत्रित
भावना का ज्वार है ॥

श्रोतृगण में सम्मिलित
सोल्लास जन-समुदाय है।
प्रभु-वचन-मुक्ता चयन में
लीन, संयत-काय है ॥

देशना में जो बरसता
अमृत धारासार है।
विरति-वल्ली के लिए
मृगनखत की बोछार है ॥

शिष्ट, सार्थक, सरल, घृत-मधु-
तुल्य है वाणी मधुर।
ग्राह्य प्राणीमात्र द्वारा
मनुज हो या सुर, असुर ॥

उचित क्षण में प्रस्फुटित
अवनीश के उद्गार हैं-
पुत्र में जागृत प्रभो,
वैराग्य के संस्कार हैं ॥

राज्यसत्ता, स्वजन सबसे
पूर्ण अप्रतिबद्ध है।
मुक्तिपथ का वरण करने
आज यह कटिबद्ध है ॥

ममता - बंधन



ISBN - 81-7195-253-4



9 788171 495253

₹ 80.00